श्री महावीर ग्रंथमाला—२२ वाँ पुष्प

वचनदूतम्

(उत्तरार्द्ध)

•

रचयिता

पं० मूलचन्द शास्त्री

श्रीमहावीरजी (राज.)

प्रस्तावना

डा० रामचन्द्र द्विवेदी

प्रोफेसर एवं निदेशक

जैन अनुशीलन केन्द्र

राज. विश्वविद्यालय, जयपुर

प्रकाशक

मन्त्री

प्रबन्ध कारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

पुस्तक-प्राप्ति स्थान

१. मंत्री कार्यालय

दि. जैन अ. क्षेत्र श्रीमहावीरजी
महावीर भवन, सवाई मानसिंह हाईवे
जयपुर–३०२ ००३

२. मैनेजर

दि. जैन अ. क्षेत्र श्रीमहावीरजी
श्री महावीर जी (राजस्थान) ३२२ २२०

प्रथम संस्करण, १९८१
५०० प्रतियां

मूल्य : दस रुपया

मुद्रक
मनोज प्रिन्टर्स
गोदीकों का रास्ता,
किशनपोल बाजार, जयपुर

प्रकाशकीय

"वचनदूतम् उत्तरार्द्ध" को पाठकों के हाथों में देते हुए हमें अतीव प्रसन्नता है। इसका पूर्वार्द्ध भाग क्षेत्र के साहित्य शोध विभाग की ओर से सन् १९७५ में प्रकाशित किया गया था जिसकी विद्वज्जनों ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। संस्कृत भाषा के इस दूत संज्ञक काव्य को निबद्ध करने का श्रेय पं. मूलचन्दजी शास्त्री श्री महावीर जी को है। शास्त्रीजी संस्कृत के उद्‌भट विद्वान हैं और संस्कृत काव्य रचना में अत्यधिक रुचि लेते हैं। इसी वर्ष अप्रेल, १९८१ में महावीर जयन्ती के अवसर पर श्री महावीर क्षेत्र की ओर से वार्षिक मेले पर आपको सम्मानित भी किया गया था। हमें प्रसन्नता है कि राजस्थान संस्कृत साहित्य सम्मेलन की ओर से भी इस वर्ष आप सम्मानित किये गये हैं।

प्रस्तुत काव्य क्षेत्र कमेटी के प्रकाशन का २२ वां पुष्प है। हमारे २१ वें प्रकाशन "बाहुबली" खण्ड काव्य [श्री अनूपचन्द न्यायतीर्थ द्वारा रचित] का विमोचन भगवान बाहुबली प्रतिष्ठापना सहस्राब्द समारोह एवं महामस्तकाभिषेक महोत्सव के पुनीत अवसर पर श्रवणबेलगोला में परम पूज्य १०८ एलाचार्य श्री विद्यानन्द जी महाराज के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ था। इस के पूर्व विभाग के २० प्रकाशनों में राजस्थान के जैन भंडारों की ग्रंथ सूचियों के पांच भाग, राजस्थान के जैन सन्त, महाकवि दौलतराम कासलीवाल व्यक्तित्व एवं कृतित्व, जिणदत्त चरित, प्रद्युम्न चरित, जैन शोध और समीक्षा, पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ स्मृति ग्रंथ आदि के नाम उल्लेखनीय है।

भविष्य में साहित्य प्रकाशन के कार्य को अधिक गतिशील बनाने की दिशा में हम प्रयत्नशील हैं।

हमें यह सूचित करते हुए प्रसन्नता होती है कि योग विषय की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति "योगानुशीलन" जिसके लेखक श्री कैलाशचन्द्र जी बाढदार हैं, का मुद्रण कार्य चल रहा है और हमें महावीर जयन्ती तक उसके प्रकाशित होने की पूर्ण आशा है।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी की प्रबन्ध कारिणी कमेटी का कार्य क्षेत्र सिर्फ श्री महावीर जी दर्शनार्थ आने वाले यात्रियों को आवास आदि

की सुख सुविधा सुलभ कराने तक ही सीमित नहीं है अपितु धार्मिक, साहित्यिक शैक्षणिक, छात्रवृत्ति, चिकित्सा, असमर्थ व्यक्तियों की सहायता, ग्राम्य विकास आदि अनेक लोक कल्याणकारी, सामाजिक व सार्वजनिक गतिविधियां भी प्रबन्ध कारिणी कमेटी द्वारा संचालित हैं।

जैन वाङ्मय के अन्वेषण, प्रकाशन तथा नवीन साहित्य के निर्माण की दिशा में भी क्षेत्र द्वारा महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा रहा है।

प्रस्तुत काव्य की महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना लिखने के लिए हम प्रोफेसर डा० रामचन्द्र जी द्विवेदी अध्यक्ष, जैन अनुशीलन केन्द्र राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर के अत्यधिक आभारी हैं जिन्होंने हमारे निवेदन को स्वीकार कर प्रस्तावना लिखने की महती कृपा की है।

हम पं. मूलचन्द जी शास्त्री के प्रति भी कृतज्ञता प्रगट करते हैं जिनने संस्कृत साहित्य की इस काव्य रचना के प्रकाशन की हमें स्वीकृति प्रदान की। इस प्रकाशन के प्रूफ देखने में पं. अनूपचन्द जी न्यायतीर्थ ने काफी श्रम किया है वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

कपूरचन्द पाटनी
प्र० मन्त्री

आद्य वक्तव्य

आज मैं अपने विज्ञ पाठकों के कर कमलों में चिरप्रतीक्षित 'उत्तरार्द्ध वचनदूतम्" को समर्पित करता हुआ अपने आप में आनन्दातिरेक का अनुभव कर रहा हूँ। सन् १६२६ से जबकि मैं अपना विद्यार्थी जीवन समाप्त कर सामाजिक कार्य क्षेत्र में उतरा तब से आजीविकोपार्जन के साधनों के जुटाने में रत तो रहा ही, पर सरस्वती माता की सेवा करने की मनोवृत्ति से विहीन भी नहीं हुआ। सब कुछ करते धरते भी अहर्निश चित्त में यही भावना भी रहती रही कि यदि गुरुदेव की परम कृपा से जो यत् किंचित् बौद्धिक क्षयोपशम प्राप्त कर पाया हूँ तो उसका सदुपयोग करता रहूँ अर्थात् सरस्वती माता के भंडार में अपनी ओर से पत्रं पुष्पं फलं तोयं कुछ न कुछ करता रहूँ। उसी भावना का प्रति फलस्वरूप यह 'उत्तरार्ध-वचन दूत' है। इस में राजुल के जनक ने एवं उसकी सखियों ने नेमि से क्या२ अपना २ अभिप्राय प्रकट किया, यह सब साहित्यिक भाषा से सज्जित कर प्रकट किया गया है। वचन दूत के निर्माण के सम्बन्ध में मैं पूर्वार्द्ध वचन दूत के आद्य-वक्तव्य में अपना सब कुछ अभिप्राय प्रकट कर चुका हूँ अतः अब और इस सम्बन्ध में अधिक लिखना मैं उचित नहीं समझता हूँ। काव्य के अंत में जो प्रशस्ति लिखी गई है उस से भी पाठक गण मेरे अभिप्राय को जान सकते हैं।

जो अभी तक मैंने सरस्वती माता के भंडार को करीब ५० संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद एवं संस्कृत में कुछ मौलिक रचनाएँ देकर के यत् किंचित् वर्द्धित किया है सो यह सब परम पूज्य विद्या-गुरुदेव का ही प्रभाव है। मेरा इसमें कुछ नहीं है मैं तो एक मालाकार मात्र हूँ।

इस उत्तरार्ध वचनदूत में कवि शिरोमणि कालिदास के उत्तरार्ध मेघदूत के अन्त्य पाद की पूर्ति की गई है। त्रुटि के लिये क्षम्य हूँ और उसे सूचित करने की अपने कृपालु पाठकों से प्रार्थना करता हूँ ताकि आगे वह शुद्ध की जा सके।

यह मेरी स्वतंत्र रचना है। मंदाक्रांत एवं त्राटक आदि छंद जो हिन्दी में लिखे गये हैं वे भी स्वोपज्ञ हैं। इनके द्वारा श्लोक का भाव कुछ अधिक स्पष्ट हो जाता है।

अंत में मैं क्षेत्र की प्रबन्धकारिणी कमेटी के अध्यक्ष श्रीमान् ज्ञानचन्द्रजी

खिन्दूका एवं मन्त्री श्री कपूरचन्द जी पाटनी और प्र. का. के सभी मान्य सदस्यों का बहुत अधिक आभारी हूँ कि जिन्होंने इस काव्य को प्रकाशित करा कर मेरे परिश्रम को सफल बनाया तथा सहयोगी डा. श्री कस्तूरचन्दजी कासलीवाल एवं पं. श्री अनूपचन्दजी सा. का भी बहुत आभारी हूँ कि जिन्होंने इसके प्रूफ आदि के संशोधन में अपना अमूल्य समय प्रदान किया।

विनीत

मूलचन्द शास्त्री

प्रस्तावना

पं० मूलचन्द जी शास्त्री अपनी सारस्वत साधना के लिये विख्यात हैं। कर्कश तर्क एवं सुकुमार साहित्य, वज्र और कुसुम, दोनों ही उनकी लेखनी से प्रसूत हैं। आज वे ७० वर्ष के हैं तथा प्रोस्टेट ग्रन्थि के प्रकोप से पीडित हैं। इस अवस्था और स्थिति में उन्होंने 'वचन दूतम्' का प्रणयन किया है। धन्य है संस्कृत का साहित्यकार जो सहस्राब्दियों से लक्ष्मी के कोप को निरन्तर सहता हुआ सरस्वती की आराधना में अनवरत लगा हुआ है। वह राजकीय कृपाकटाक्ष अथवा तन्मूलक प्रतिबद्धता से अनुप्राणित कविता नहीं लिखता, न वह प्रतिदिन परिवर्तनशील काव्य-फैशन का अनुकरण करता है। वह जो लिखता है वह निश्चित ही उसकी अपनी भावना, प्रज्ञा एवं मनमें प्रतिष्ठित है वह अपनी आत्मा को अभिव्यक्त करता है न कि ओढे हुए अनुभवों को अथवा मौसमी बौद्धिकता को। यही कारण है कि शास्त्रीजी ने जो काव्य लिखा है वह उनकी आध्यात्मिक भावभूमि से प्रोद्भूत होकर चिरंतन काव्य परम्परा पर कालजयी बनने के लिये प्रतिष्ठित है। काव्य की प्रस्तावना के पूर्व दो शब्द इस कवि के अत्यन्त उज्ज्वल एवं प्रेरणादायक मानवीय रूप का उल्लेखन करने के लिये आवश्यक हैं। यह सभी प्रसंग 'वचनदूत' के अन्त में उट्टंकित पद्यों से सग्रहीत हैं। अपनी पत्नी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कवि कहता है कि उसी के सेवा-बन्धन में बंधकर मैं यह काव्य लिख सका। साहित्यकार, विपन्न संस्कृत साहित्यकार, की पत्नी का साहित्य-सृष्टि में कितना हाथ होता है, इसकी निश्छल स्वीकृति साहित्य-साधना में निरत सभी साहित्यकारों की ओर से भारतीय पत्नी का एक ध्वन्यात्मक अभिनन्दन है। विपन्न माघ की पत्नी भी इसी प्रकार शुश्रूषा-परायण रही होगी। पत्नी के सेवा भाव ने ही गृहस्थाश्रम को स्वर्ग बनाया है, तभी तो 'वचनदूत' का कवि राजुल को वैराग्य-दीक्षा के लिये प्रवृत्त करता है किन्तु स्वयं अपने लिये और अपने साथियों के लिये यह घोषणा करता है—

ईदृशी गृहिणी भूयात् सर्वेषां सद् गृहाश्रमे।
यद्धर्मसेवनात्स्वर्गो गृहे चापि विजृम्भते॥

कवि राजुल को राग छोड़कर विराग का उपदेश देता है किन्तु उसका मानव मन घर में स्वर्ग बनाने का आह्वान करता है। धन्यो गृहस्थाश्रमः। शास्त्रीजी भगवान् महावीर की पूजा में निरन्तर लगे रहें पर आज वे पीड़ित हैं प्रोस्टेट ग्रन्थि

की व्याधि से। वे विवश होकर स्वीकार करते हैं कि भाग्य ही मेरे प्रतिकूल है और इस प्रतिकूलता की सहज स्वीकृति के साथ प्रार्थना करते हैं कि हे भाग्य तुम मेरे साथ कुछ भी भलाई नहीं करना चाहते हो, तो मत करो। न मुझे धन चाहिये न कीर्ति, न अपार सुख। बस एक ही प्रार्थना है कि इतनी मुझे शक्ति अवश्य दो ताकि तुम्हारे दिये हुए कष्ट को यह व्याधि पीड़ित बुड्ढा शरीर भोग सके। मानवीय विवशता की यह सशक्त अभिव्यक्ति है—

कर्तुं मे न शुभं भवेद् यदि विधे, वाञ्छा त्वदीयाऽधुना।
मा कार्षीरशुभं कदाचिदपि मे विज्ञप्तिमेतां शृणु॥
याचे न द्रविणं न कीर्तिमतुलं सौख्यं परं प्रार्थये।
त्वत्कष्टैकसहा भवेत्तनुरियं कुर्यादियन्मे बलम्॥

अंतिम पंक्ति अत्यन्त मार्मिक है। संकट तो साहित्यकार का औरस बन्धु है, गुलाब कांटों के साथ पैदा होता है[1] पर व्याधि को सहने की शक्ति शास्त्रीजी चाहते हैं अपने भीतर बैठे कवि के लिये ताकि वह 'वचनदूतम्' को पूरा कर सके। आधि व्याधि एवं जरा से संघर्ष करते हुए कवि ने जिस ललित एवं प्रसन्न पदों से पूर्ण नव्य काव्य का निर्माण किया है वह तर्क-घास से निकला हुआ दुग्ध मात्र न होकर काव्य-दुग्ध से निस्सृत सरस नवनीत है जो सर्वदा सगुण होने के कारण निर्गुण (गुणातीत) है।[2]

कविकुल के गुरु कालिदास का मेघदूत परवर्ती संदेशों काव्यों का आदर्श है। मेघ की दक्षिण से उत्तर में हिमालय की ओर नैसर्गिक यात्रा को मानव की विरह-भावना से सम्बन्धित कर कालिदास ने इस देश के सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों, नदियों, पहाड़ों एवं नगरों की भव्य झांकी प्रस्तुत की है। एक ओर वह ऋतु-काव्य है, दूसरी ओर विरह का गीत, तीसरी ओर वह दक्षिण-उत्तर, उत्तर-दक्षिण की प्राकृतिक तथा भावात्मक एकता का सन्देश-काव्य है तो चौथी ओर वह ग्राम, अरण्य, राजधानी यक्ष-नगरी आदि की भिन्न संस्कृति का अभिलेख है। अनन्त अर्थों कमनीय कल्पनाओं एवं रमणीय चित्रकलाओं के इस लघु काव्य ने जितना कवियों को अनुकरण के लिये प्रेरित किया है उतना कालिदास के किसी दूसरे काव्य या नाटक ने नहीं। संस्कृत के ही नहीं अपितु विभिन्न भारतीय भाषाओं के कवियों ने कवि–कुल–गुरु से निरन्तर शिक्षा दीक्षा पाई है

1–विद्वांसस्तु भवन्त्येते संकटापन्नजीवनाः
प्रकृत्या कंटकाकीर्णो जायते पाटलीसुमः॥ अन्त्य पद्य 26

2–उपर्युक्त कथन कवि के अन्त्य पद्यों 3, 4, 11 का परिष्कार है।

ग्रौर पाते चले जा रहे हैं। ग्राज लगभग डेढ़ या दो हजार वर्ष बीत जाने पर भी मेघदूत की प्रेरणा कम नहीं हुई है। मेघदूत में शृंगार एवं वैराग्य का ग्रद्वैत प्रतिष्ठित है। महाकाल मन्दिर में इन दोनों के ग्रद्वैत का प्रत्यक्ष होता है ग्रन्यत्र वह समझने पर निर्भर है। ग्रनुकरण कितना भी कमनीय क्यों न हो उसमें मूल की महत्ता नहीं होती। यही कारण है कि कालिदासोत्तर सन्देश काव्यों में वह व्यापक दृष्टि ग्रौर रसवत्ता नहीं है जो कालिदास में है। यही नहीं, ग्रनेक सन्देश काव्य केवल तकनीक की दृष्टि से ही मेघदूत का ग्रनुकरण है। ग्रभी कुछ वर्षों में जो नये संदेश काव्य मुझे देखने को मिले उनमें पुलिवर्ति शरमाचार्य का 'मरु सन्देश' 1963 तक के नव भारत के वर्णन के द्वारा देश के ग्राधुनिक स्वरूप ग्रौर नगरादि का वर्णन है। श्री परमानन्द शास्त्री का 'गन्ध दूत' रूमानी प्रणय भावना का काव्य है। इन दोनों में नव चेतना भी परिलक्षित होती है। इसी प्रकार हाल के पांथ दूत, ह्यवंग दूत, मयूख दूत ग्रादि भी कालिदास द्वारा प्रवर्तित दूत काव्य परम्परा की जीवन्तता ग्रौर इस विधि की सशक्तता का शंखनाद करते हैं। इसलिए एक पद्य में मैने लिखा था—

कालिदासेन कविना यद्वाग्वर्त्म निषेवितम्।
सर्वे तदेव सेवन्ते कवित्वं शाश्वतं पदम्॥

शुक, कोकिल, चातक, भ्रमर, गरुड़, कोक, मयूर, हंस, उद्धव, विप्र, गंध ग्रादि ग्रनेक माध्यमों से ८ वीं शताब्दि से ग्रब तक इस काव्य की परम्परा निरन्तर चल रही है। यह संस्कृत की जीवन्तता ग्रौर कालिदास की ग्रमरता का एक प्रमाण है। इस परम्परा की प्राणवत्ता ग्रौर महत्ता को प्रतिष्ठित करने में जैन कवियों ने बहुत योगदान दिया है। ग्राठवीं शताब्दि में प्रसिद्ध जैन कवि जिनसेन ने मेघदूत के प्रत्येक पाद को लेकर समस्या-पूर्ति के रूप में पार्श्वनाथ के चरित्र-निरूपण के लिये 'पार्श्वाभ्युदय' लिखा। ग्रापाततः शृंगार एवं लौकिक प्रवृत्ति को ग्राध्यात्मिक चेतना को उपदेश द्वारा निवृत्ति मार्ग की ग्रोर उन्मुख करने का यह ग्रभिनव प्रवर्तन था। इसी प्रवर्तना की दूसरी कड़ी प्राचीन नेमिदूत है।

श्री शास्त्रीजी का प्रस्तुत 'वचनदूत' प्रणय-भावना के उदय के ग्रनन्तर गिरिनार पर्वत पर ग्रविचल नेमिनाथ के प्रति वाग्दत्ता राजीमती (राजुल) की मानवीय ग्रनुभूति का काव्य है। इसके पूर्वार्द्ध में राजुल का ग्रात्म निवेदन (वचन) है जिसका प्रकाशन पहले हो चुका है ग्रौर प्रस्तुत उत्तरार्द्ध में परिजनों के द्वारा राजुल की व्यथा का निवेदन (वचन) है। मानवीय हृदय की, सुकुमार नारी हृदय की, विवाह की मंगल वेला पर निराशा का ग्रनन्त पारावार इस काव्य में उल्लसित है। केवल ज्ञान श्लाघ्य है पर राजुल का ग्रपने भावी पति के प्रति स्वाभाविक प्रणय-भाव भी कम श्लाघ्य नहीं। यही कविता का ग्रन्तस्तत्व है। इसी ने सद्गृहस्थ कवि को प्रेरित किया है।

राजुल की रागात्मकता, प्रणय-भावना, निराशा एवं विफलता का कवि ने सफल चित्रण कर उसे अन्त में आध्यात्मिकता की ज्योति-किरण से आलोकित किया है। इस प्रकार राग के उदय और विराग में अवसान का यह काव्य निश्चित ही स्तुत्य है। शृंगार का पर्यवसान शांत में है। महाकवि कालिदास की काव्य सृष्टि का यह स्वारस्य शास्त्रीजी की काव्य-साधना का भी मूलाधार है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि समस्यापूर्त्ति में कल्पनाओं को बिठाना पड़ता है। मूल पद का अर्थ-परिवर्तन करना पड़ता है। इसलिये समस्या पूर्त्ति का काव्य केवल प्रतिभा-साध्य न होकर व्युत्पत्तिसाध्य हो जाता है। इस सीमा के कारण शास्त्रीजी ने जहां तक सम्भव था वहीं तक, मेघदूत के अन्तिम पद का प्रयोग किया है। ललितोचित-सन्निवेश-रमणीय प्रसन्न पदावली उनके काव्य का गुण है। निराश राजुल की दुर्दशा के चित्रण में कवि ने अत्यन्त भावार्द्र काव्य का प्रणयन किया है। हिन्दी में अर्थ एवं पद्यानुवाद देकर इस वस्तु को अधिक उपयोगी बनाया है। शास्त्रीजी की अदम्य सारस्वत साधना का सौरभ सदा संस्कृत साहित्य को सुरभित करता रहे। इसी मंगल कामना के साथ 'वचनदूत' काव्य के आस्वादन के लिये सहृदयों को आमंत्रित करता हूं।[1]

दि० १४-१२-८१ रामचन्द्र द्विवेदी

1. कवेः श्री मूलचन्द्रस्य, काव्यं भव्यं नवं तथा।
कालिदासयथा याते, रागे वैराग्यमाश्रितम् ॥

वाग्दत्तराजुलवधूनां साश्रुभावैर्निवेदितम्।
श्री नेमिनाथवैराग्यं ख्यापयत् पूर्णतां गतम् ॥

तदेतदमलं काव्यं शान्तं हृद्यं गुणान्वितम्।
विपन्नस्य कवेर्भूयाद् यशसा सह मुक्तये ॥

गणयन्तः श्रियं दीनां वाग्देवीं मातरं श्रिताः।
यावज्जीवमधीयानाः कवयः संस्कृते श्रुताः ॥

तैरेव साधितो धर्मः संप्रत्यपि प्रवर्तते।
येन विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा सुरभारती ॥

विषय-सूची

१.	प्रकाशकीय	III–IV
२.	प्राद्य वक्तव्य	V–VI
३.	प्रस्तावना	VII–X
४.	वचन दूतम् (उत्तरार्द्ध)	१–१०४



श्रीः

मूलचन्द जैन शास्त्रिणा विरचितं

उत्तरार्द्ध वचनदूतम्

ज्ञात्वैवं तज्जनक-जननी-बान्धवाश्चोर्जयन्तं,
गत्वा प्रोचुस्तपसि निरतं नेमिमित्थं स्वहार्दम् ।
आसीदेवं त्वदभिलषितं किं न पूर्वं तदुक्तं,
सत्येवं नो भवति न विभो ! त्वत्कृता दुर्दशेयम् ।।१।।

अन्वय-अर्थ—(एवं ज्ञात्वा) हताश होकर राजमती भवन में आ गई है ऐसा जानकर (तज्जनक-जननी-बान्धवाः च) उसके माता, पिता और बन्धुजनों ने (उर्जयन्तं गत्वा) गिरनार पर्वत पर जा करके (तपसि निरतं) तपस्या में—ध्यान में, मग्न हुए (नेमिं) नेमिनाथ से (इत्थं) इस प्रकार का (स्वहार्दम्) अपना अभिप्राय (प्रोचुः) स्पष्टरूप से कहा—(विभो) हे स्वामिन् ! यदि (एवं त्वदभिलषितं) ऐसा ही आपको अभिलषित था—करना इष्ट था—तो (पूर्वं) पहले से ही—जबकि आपका वाग्दान हो रहा था— तब ही—(तत् किं न उक्तम्) आपने अपना वह अभिलषित—अभिप्राय—क्यों नहीं कहा, (एवं सति) यदि आप उसे कह देते तो (नः) हम लोगों की (त्वत्कृता) आपके निमित्त से (इयम्) यह (दुर्दशा) जो दुर्दशा (भवति) हो रही है (न) वह तो नहीं होती ।

भावार्थ—राजुल जब नेमि के पास से हताश होकर वापिस अपने भवन में आ गई और उसके आने की खबर जब उसके माता-पिता आदि हितचिन्तक जनों को पड़ी—तो वे सबके सब मिलकर गिरनार पर्वत पर पहुँचे । वहां पहुंच कर उन्होंने तपस्या में लीन हुए नेमिनाथ से बड़ी विनय के साथ कहा—नाथ ! यदि आपको ऐसा ही करना इष्ट था—तो जब आपका वाग्दान हो रहा था तब आपको अपना यह अभिप्राय स्पष्टरूप से कह देना चाहिए था, पर आपने नहीं कहा—यदि आप अपना अभिप्राय प्रकट कर देते तो हम लोगों की ऐसी जो विकट यह दुर्दशा आपके कारण हो रही है वह तो न होती ।

पद्यानुवाद

मन्दाक्रान्ता छन्द—ज्यों ही जाना जनक-जननी ने समाचार सारा,
प्यारी बेटी रजमति सती का, गये शीघ्र त्यों ही।
वे नेमी के निकट गिरि पै, साथ ले बन्धुओं को,
बोले स्वामिन्! अभिलषित था वेष ये जो धरा है।
अच्छा होता प्रकट करते भावना आप ऐसी,
वाणी द्वारा प्रथम हमसे तो न होती हमारी।
प्यारी बेटी रजमति सती की तथा बन्धुओं की,
ऐसी जैसी अब विकट ये दुर्दशा हो रही है ॥१॥

आटक छन्द—हो हताश राजुल गिरिवर से लौट भवन में आई है,
ऐसी ज्यों ही मात तात ने खबर कर्णकटु पाई है।
त्यों ही चिन्तित, व्यथित हृदय वे बंधुजनों से परिवृत हो,
कल्पों जैसे संकल्पों से तर्जित मर्दित अर्दित हो।
पहुँचे गिरि पर, गिरते पड़ते नेमि निकट, बोले उनसे,
गद्गद वाणी से यों—स्वामिन्! तुम्हें राग था मुनिपन से।
तो हे नाथ! बना का बाना बना द्वार पर क्यों आये,
और न पहिले से ही ऐसा निज मन्तव्य बता पाये।
स्वामिन्! वाग्दान से पहिले यदि मन्तव्य बता देते,
तो हम भी सचेत हो जाते मोल न यह आपद लेते।
होते आप न कारण इसके और न ऐसी ही होती,
हम लोगों की विकट दुर्दशा और न राजुल ही रोती ॥१॥

सा मे पुत्री व्यथितहृदया प्रत्यहं दुर्विकल्पै—,
स्त्वच्चिन्तोत्थैः स्वपिति न मनाग् निर्निमेषाक्षियुग्मा।
वक्त्रं तस्या हिमकरनिभं त्वद्वियोगेऽस्तशोभम्,
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम् ॥२॥

अन्वय-अर्थ—हे नाथ! (प्रत्यहं त्वच्चिन्तोत्थैः) रात दिन आपकी चिन्ता से उत्पन्न हुए (दुर्विकल्पैः) दुर्विकल्पों द्वारा (व्यथितहृदया) जिसका हृदय व्यथित—

पीड़ित—हो रहा है ऐसी (सा) वह (मे पुत्री) मेरी पुत्री (निर्निमेषाक्षियुग्मा) अपलक नयन वाली हो गई है—और (मनाग् न स्वपिति) निद्रा भी उससे किनारा काट गई है। अतः (हिमकरनिभं) चन्द्रमा के जैसा (तस्या वक्त्रं) उसका मुख (त्वद्वियोगे) आपके वियोग में (अस्तशोभम्) शोभा विहीन हो गया है। (खलु) सच है—(सूर्यापाये) सूर्य के नहीं रहने पर (कमलं) कमल (स्वाम् अभिख्यां) अपनी शोभा को प्राप्त नहीं करता है।

भावार्थ—हे स्वामिन्! आपके वियोग से उद्‌भूत हुए चिन्ताजन्य दुर्विकल्पों ने मेरी पुत्री को रात दिन इतना अधिक परेशान कर रक्खा है कि कुछ कहते नहीं बनता, निद्रा उसकी चली गई है। केवल—टकटकी लगाये हुए वह देखती रहती है। चन्द्र के जैसा सुहावना उसका मुख अब ऐसा हो गया है कि जैसा सूर्य के अभाव में मुरझाया हुआ कमल होता है।

स्वामिन्! मेरी वह प्रियसुता आपके ध्यान से है,
भारी दुःखी, निशदिन उसे सोच है आपका ही।
चिन्ता से वो वस व्यथित है, खेदखिन्ना विकल्पों—,
द्वारा भारी, विगत उसकी नींद भी हो गई है।
पूछूं तौ भी नहिं स्वमन की बात वो है बताती,
आँखें उसकी अपलक हुई सोच की तीव्रता से।
चन्दा जैसा वदन उसका हो गया कान्तिहीन,
हो जाता है रविविरह से कंज जैसा मलीन ॥२॥

नाथ! आपके महाविरह से मेरी पुत्री राजमती।
व्यथित हृदय हो रात दिवस ही मन ही मन रोती रहती।
समझाने पर और अधिक वह दुःखित हो क्लेशित होती,
चिंताजन्य विचारों से वह नहीं नींद भर भी सोती।
अपलकनयन वदन शोभाविन उसकी अन्तर्ज्वाला को,
विना कहे ही प्रकटित करता पतिविछोह की पीड़ा को।
अतः इन्दुमण्डल सा उसका श्रीमण्डल से हीन हुआ,
मुखमण्डल, रविमण्डल के विन कंज सदृश अतिमलिन हुआ ॥२॥

मुक्त्वेमां कुं कृमिकुलचितां श्वापदाढ्यामयोग्याम्,
दीनै र्हीनैः सततसहितां रक्षकैः रिक्तदेशाम् ।
हित्वं जीवं ध्रं वपरिवृतां कान्त ! मे कान्तमेहि;
पस्त्यं शस्त्यं सुजननिचितं द्वारपालैः सुरक्षम् ।।३।।

अन्वय-अर्थ—(कान्त) हे स्वामिन् ! (कृमिकुलचिताम्) कीड़ों के समूह से भरी, (श्वापदाढ्याम्) जंगली जानवरों से युक्त (अयोग्याम्) आपके रहने के अयोग्य (दीनैः हीनैः) दीन हीन मनुष्यों के लिये (सततसहिताम्) सदा हितकारक और (रक्षकैः रिक्तदेशाम्) रक्षक जहां एक भी जन नहीं है । ऐसी (इमां कुं मुक्त्वा) इस भूमि को-जगह-को-छोड़कर आप (कान्तम्) मनोहर (मे) मेरे (पस्त्यं) घर पर—राजमंदिर में—जो कि (शस्त्यं, सुजननिचितम्) हर प्रकार की सुविधाजनक साधन सामग्री से युक्त होने के कारण आरामप्रद है और सुजनों से भरपूर है तथा (द्वारपालैः सुरक्षम्) द्वारपालों द्वारा सुरक्षित है (एहि) पधारो ।

भावार्थ—हे नाथ ! यह स्थान सैकड़ों प्रकार के विषैले डांस, मच्छर, कृमि आदि कों द्वारा भरपूर है, यहां शिकारी भयङ्कर जंगली जानवर रहते हैं । हीन दीन जन जो कि आक्रमणकारी जानवरों से आपकी रक्षा नहीं कर सकते निवास करते हैं । अतः ऐसे इस चित्तक्षोभी गिरिप्रदेश को छोड़कर मेरे राजभवन में जहां कि सुजनों से आपका सम्पर्क रहेगा, चित्त में वहां किसी भी प्रकार की अशान्ति नहीं रहेगी, चौबीस घन्टे जहां रक्षक-पहरेदार-आपकी सेवा में उपस्थित रहेंगे आप पधारो ।

स्वामिन् ! छोड़ो इस गिरि-मही को न ये वासयोग्य,
है, है क्योंकि प्रचुर इसमें कीटराशि विषैली ।
है चारों ही तरफ इसमें जंगली प्राणियों की
टोली, होगा नहिं रजनि में आपका कोइ त्राता
दीनों की है वसति दुखियों की यहां एक मात्र
जो है ऐसी नहिं कर सके आपकी देहरक्षा,
सो मानों हे यदुकुलपते ! छोडकें आप इस्कों
आओ मेरे भवन सुजनों-रक्षकों से घिरा जो,

नाथ ! आपका इस गिरी-ऊपर वास नहीं सुखप्रद जचता
क्योंकि विषैले कीड़ों का व्रज यहां सदा फिरता रहता ।

कैसे धर्मध्यान सधेगा होगा मन अविचल कैसे,
क्षण क्षण में वह रक्त पियेगा डस डस कर जब तन में से,
श्वापदकुल विकराल काल सा पद पद पर फिरता रहता,
जीवघात करके जो अपना गह्वर-उदर भरा करता,
दीनहीन तनक्षीण मलिनमुख जनता यहां पर रहती है
हिंसक जीवों के घातों से रक्षाशक्त न दिखती है
अतः छोड़कर इस प्रदेश को राजमहल में आप चलो
कान्त! शान्त आतङ्क हीन उसमें निशङ्क बन ध्यान करो, ।।३।।

अद्रेः शृङ्गं प्रिययदुपते ! कंटकाकीर्णमेतत्,
मुञ्चाशु त्वं शबरदयिता वीक्ष्य नग्नं यतस्त्वाम्,
ईषद्धास्या अवनतमुखा लज्जया निन्दयन्त्यः,
यास्यन्त्यस्मादविनययुता गर्हितां वाचमुक्त्वा ।।४।।

अन्वय-अर्थ—(प्रिययदुपते) हे प्रिययदुपते ! (कंटकाकीर्णम्) कांटों से भरी हुई (एतत् शृङ्गं) इस पर्वत की चोटी को (त्वम्) आप (आशु मुञ्च) शीघ्र छोड़ दीजिये । (यतः) क्योंकि (त्वाम्) आपको (नग्नं) नंगा (वीक्ष्य) देखकर (शबर-दयिताः) भीलों की पत्नियां (ईषद्धास्या) पहिले तो मुस्कायेंगी, फिर (लज्जया) लज्जा से (अवनतमुखाः) वे अपना मुख नीचा कर लेंगी, बाद में (निन्दयन्त्यः) आपकी निंदा करती हुई वे (गर्हितां वाचम् उक्त्वा) अपशब्दों का प्रयोग करके अविनययुताः अस्मात्) आपके प्रति विनय न दिखाकर आपके पास से होकर के यहां से (यास्यन्ति) निकल जावेंगी ।

भावार्थ—हे यदुवंशियों के लाडलेलाल ! आपको यह पर्वत का शिखर जल्दी से जल्दी छोड़ देना चाहिये । क्योंकि यह नुकीले कांटो से भरा हुआ है और आपके कोमल चरणों में उनसे रक्षित होने का कोई साधन नहीं है । तथा–यहीं से होकर भीलों की तरुणस्त्रियां आती जाती रहती हैं । सो जब वे आपको रास्ते में नग्नस्थिति में बैठा हुआ देखेंगी तो लज्जा से उनका मुख नीचा हो जायेगा । वे आपकी प्रशंसा न कर प्रत्युत निंदा ही करेंगी और जो उनके मुख में आयेगा वही बकेंगी ।

छोड़ो छोड़ो प्रिययदुपते ! आप ये शृङ्ग जल्दी,
तीखे कांटो सहित क्षिति है क्योंकि यहां की विषैली ।
भिल्लश्यामा प्रतिदिन यहीं से सभी नाथ ! होके,
आतीं जातीं, लखकर तुम्हें मार्ग में नग्न बैठा,
होवेंगी वे त्रपित, घुंघटा से ढकेंगी स्व आस्य
मुस्कायेंगी, निकल करके वे यहां से जहां भी,
जायेंगी, व्हां खुलकर विभो ! आपकी वे करेंगी,
निंदा भारी, सुनकर जिसे दुखः होगा हमें भी,
तानें देंगी, हर तरह से गालियां भी बकेंगी,
स्वामिन् ! बोलो तब फिर यहां बैठना योग्य कैसे–
माना जावे, उचित अब तो है यही नाथ ! मेरे–
रक्षाशाली घर पर चलो, है बड़ा वो प्रशस्त
बाधा होगी नहीं तनिक भी आपको नाथ ! व्हां पैं ।।४।।

कंटक-निकर-सहित गिरिवर के तजो नाथ शिखरस्थल को
यदि चाहते शांति स्वान्त में और चाहते मंगल को
नहीं सधेगा ध्यान आपका यहां न मन सुस्थिर होगा
क्योंकि यहां कारण हैं ऐसे जिनसे यह विचलित होगा
गिरिवासी भीलों की प्रतिदिन श्यामा, प्रौढा मुग्धाएँ
सभी यहीं से आतीं जातीं सधवा विधवा बालाएँ
नग्न तुम्हें बैठा देखेंगी वे ज्यों ही शरमायेंगी
हँसी करेंगी और गालियां भी अपार बरसावेंगी
ताना देंगी नाना तुमको तुम्हें बुरा बतलावेंगी
निंदा करती हुई अन्त में वे तुमको धमकावेंगी
कहो कौनसी शोभा इसमें नाथ ! आप भी तो सोचो
राजपुत्र हो घृणा पात्र बन क्यों जीवन को यों दोंचो ।।४।।

नास्तीदं ते शिखरिशिखरं ध्यानयोग्यं यतस्त्वाम्,
दृष्ट्वा वस्त्रव्यपगततनुं, स्वीयकार्यं विधातुम्।
यान्तो भिल्ला इह पथि गतं धर्ममार्गानभिज्ञाः,
विघ्नीभूतं विविधविधिभिस्ताडयिष्यन्ति मत्वा ॥५॥

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (इदं शिखरिशिखरं) यह पर्वत प्रदेश (ते ध्यानयोग्यं नास्ति) आपको ध्यान करने योग्य नहीं है। (यतः) क्योंकि (स्वीयकार्यं) अपने कार्य को (विधातुम्) संपादित करने के लिये (यान्तः) जाते हुए (भिल्लाः) भील लोग जो कि (धर्ममार्गानभिज्ञाः) धार्मिक मार्ग से अपरिचित होते हैं (इह पथि) इस पर्वतीय मार्ग पर (वस्त्रव्यपगततनुं त्वाम्) वस्त्रविहीनशरीर वाले-नग्न-आपको (दृष्ट्वा) देख कर (विघ्नीभूतं मत्वा) और अपने कार्य की सिद्धि में विघ्नरूप मान कर (विविधविधिभिः) आपको अनेक प्रकार से (ताडयिष्यन्ति) प्रताडित करेंगे।

भावार्थ—हे नाथ ! यह पर्वतीय प्रदेश आपके ध्यानयोग्य इसलिए भी नहीं है कि धार्मिक मर्यादा को नहीं जानने वाले शबरजन इसी मार्ग से होकर अपने कार्य के संपादनार्थ निकलते रहते हैं, अतः जब वे यहां से होकर निकलेंगे और आपको नग्न बैठा हुआ ज्यों ही देखेंगे तो अपने कार्य की सिद्धि में आपका दिखना विघ्नरूप मानकर वे आपको अनेक प्रकार से प्रताडित करेंगे।

स्वामिन् ! मानो यह गिरिमही है नहीं ध्यानयोग्य,
आते जाते प्रतिदिन यहीं से सभी भील क्योंकि,
प्रातः होते प्रथम निजका कार्य संपादनार्थ
देखेंगे वे जब वसन से रिक्त नंगा तुम्हें तो
मानेंगे वे अपशकुन सा आपको हा ! अधर्मी
सोचेंगे यों नहिं अब सधेगा जरा भी हमारा
धारा कार्य, प्रथमकवले मक्षिका पात जैसा
नंगा बैठा यह दिख पड़ा, कार्य में विघ्न होगा
सो ऐंठेंगे कुपित बनके आप पैं, आपको वे
देंगे गाली, भय नहीं करेंगे बकेंगे यथेच्छ
ताडेंगे वे हर तरह से औ दयाहीन होके।

पाषाणों से लकुट थपड़ों और शस्त्रों शरों से
इम्मे तो है सुभग ! यह ही श्रेष्ठ छोड़ो इसे, औ
मेरे प्यारे सदन पर ही आप यहां से पधारो ।।५।।

नाथ ! नहीं है ध्यान योग्य यह अचलाचल सोपद्रव है,
वही चला है ध्यान योग्य तो होती जो निरुपद्रव है ।
हत्यारे भीलों की टोली क्योंकि यहीं से होकरके,
अपने इष्ट-कार्य संपादन हेतु निकलती सजधज के ।
प्रातः सो जब तुम्हें मार्ग में नंगा बैठा देखेगी,
तो वह कार्यसिद्धि में तुमको विघ्नरूप हीं मानेगी ।
होगी रुष्ट धृष्ट बनकर वह प्रभो ! तुम्हें धमकावेगी,
ताडेगी, मारेगी औ क्या ना जाने करवायेगी ।।५।।

अत्रत्यां त्वं विषमविषमां भूमिमेतां कठोराम्,
शिष्टैः रिक्तां गुणिगणवरैस्त्यक्तदेशां दुराढ्याम् ।
मत्वा त्याज्यां सुजनसहितां सौधभूमिं प्रयाहि,
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ।।६।।

अन्वय अर्थ—हे नाथ ! (विषमविषमां) अतिविषम, (कठोराम्) कठोर, (शिष्टैः रिक्ताम्) शिष्ट जनों से विहीन, (गुणिगणवरैः त्यक्तदेशाम्) गुणीजनों द्वारा सर्वथा हेय एवं (दुराढ्याम्) दुःखों से भरपूर (अत्रत्यां एतां भूमिम्) यहां की इस भूमि को–स्थान को– (त्याज्यां मत्वा) छोड़ने योग्य मानकर (त्वं) आप (सुजनसहितां सौधभूमिं प्रयाहि) अच्छे सेवाभावी जनों से परिपूर्ण (सौधभूमिं) राजमन्दिर में (प्रयाहि) पधारो (याम्) जिस पर (दिवसविगमे) सायंकाल के समय (वः) आप के जैसा हृदयवाला (नीलकण्ठः) मयूर (अध्यास्ते) बैठता है ।

भावार्थ—हे स्वामिन् ! यहां की यह भूमि अत्यन्त नीची ऊंची है, कठोर है, एक भी शिष्टजन यहां रहता नहीं है । श्रेष्ठ गुणियों का यहां सर्वथा अभाव है । यहां कष्टों के अतिरिक्त साता एक क्षण की भी नहीं है, अतः आप इस स्थान को छोड़कर राजमन्दिर की भूमि को अलंकृत करें । वहां आपको सज्जनों का सहवास

मिलेगा और सायंकाल के समय आपके जैसा हृदयवाला मयूर केकावाणी सुनाकर आपका मनोरंजन करेगा।

देखो स्वामिन् ! अतिविषम है ये यहां की धरित्री
मिट्टी भी तो नहिं नरम है है बड़ी ये कठोर
शिष्टों से भी रहित यह है बुद्धुओं से भरी है
कष्टों से ही कण कण यहां का सना है, न साता-
कोई पाता रहकर यहां, है अतः त्याज्य ही ये
ज्ञानानंदी सुजन जिसमें तत्त्वचर्चा करे हैं
सायं प्यारा सुहृद सम ज्यां बैठता नीलकण्ठ
केका द्वारा सुभग ! गुण गा गा तुम्हारी हरेगा-
चित्ताशांति, सुखित मन होगा प्रभो ! आपका, सो-
मेरे प्यारे उस सदन में आप स्वामिन् ! पधारो
देखो थोड़े समय रहकै कोइ बाधा न होगी ॥६॥

गिरिवर की यह मही विषम है, है कठोर, अरु भयप्रद है-
हिंसक जीवों के निवास से, कण कण इसका दुखप्रद है,
शिष्टों के दर्शन दुर्लभ हैं, है अशिष्ट ये आरण्यक,
रक्षाशक्त न दिखता कोई, सबके सब है जन-त्रासक, ।
इसीलिये यहां का निवास है नहिं आतंक विहीन, सुनो
आपद मोल स्वयं क्यों लेते, कुछ तो मन में आप गुनो,
अतः प्रार्थना नाथ ! यही है इसे तजो, मम मन्दिर में-
चलो, न बैठो, मानो अब इस, गिरिवररूपी जंगल में
सायं जहां सदन पर आकर मोर शोर कर जो नचता
मानों कर फैलाकर केका द्वारा तुमसे यों कहता
आओ सखे ! न जाओ अब तुम और कहीं, बस रहो यहीं
राजुल के सँग गृहस्थधर्म को पालो नैष्ठिक बनो सही ॥६॥

———

त्वय्यालीना विरहदिवसांस्तेऽधुना संस्मरन्ती,
त्यक्ताभूषा कुसुमशयने निस्पृहाऽस्वस्थचित्ता।
गत्वैकान्तं प्रलपति भृशं रोदिति ब्रूत, इत्थम्—
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥७॥

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (त्वयि आलीना) आपके ध्यान में निमग्न हुई वह मेरी पुत्री (अधुना) इस समय (ते विरहदिवसान्) आपके विरह के दिनों को (संस्मरन्ती) याद करती हुई (कुसुमशयने निस्पृहा) पुष्पों द्वारा रची गई सेज की भी चाहना से शून्य हो चुकी है। (त्यक्ताभूषा) आभूषणों को भी उसने छोड़ दिया है (अस्वस्थचित्ता) उसकी बाहरी चेतना चली गई है, वह (एकान्तं गत्वा) एकान्त में जाकर के (प्रलपति) प्रलाप करती है और प्रलाप करते करते (रोदिति) रोने लगती है। तथा (ब्रूत) जो मन में आता है वह कहने लगती है। (इत्थं जाताम्) इस प्रकार की दशा में पहुंची हुई उसे (शिशिरमथितां) मैं शिशिर से मथित (अन्यरूपाम्) अन्यरूपवाली (पद्मिनीं वा) पद्मिनी की तरह (मन्ये) मान रहा हूं।

मेरी पुत्री तजकर जिसे आप आये यहां हैं,
है वो दुःखी विरहदिवसों की सती याद से ही
है संमग्ना बस वह प्रभो ! आपके ध्यान में ही,
सो पुष्पों की रचित उसको सेज है ना सुहाती।
भूषा छोड़ा, अरु तज दिया भेष भी तो सलोना
चित्त ग्लानि प्रशम करने हेतु जाती जहां भी
रोती है वो विरह दिवसों की वहां याद से ही
आता जी में बस वह वही बोलती व्यर्थ जैसा,
छोड़ी स्वामिन् ! इकदम उसे आपने, हो गई सो—
ऐसी जैसी शिशिरमथिता पद्मिनी हो विरूपा ॥७॥

त्यागी जब से नाथ ! आपने मेरी पुत्री राजमती,
तब से तो वह विरह दुःख से हो गई भिन्नाकारवती।
दूषण सम आभूषण उसने इकदम ही परित्यक्त किया,
अग्नि जान पुष्पों की शय्या का भी तो परिहार किया

नाथ गये हैं जब से मुझको तज इतने दिन बीत गये,
मुझ अभागिनी के अब सब ही हाय ! मनोरथ सूख गये,
विरह दिनों की यह गिनती ही उसे व्यथित करती रहती,
चैन न लेने देती उसको और रूलाती है रहती
रात दिवस वह ध्यान आपके में है मग्ना भूल गई–
अपने को भी, चिन्तातुर वह छिन्नलता सी सूख गई
मनःशान्ति के हेतु जब कभी वह एकान्त में है जाती,
विरह दिनों की व्हाँ भी स्मृति से छाती उसकी भर आती
साथ नाथ का छूट गया बस ऐसी वह बातें कहती
शिशिर मथित वह पद्मलता सी आकृति से विरूप दिखती ॥७॥

अस्या नूनं प्रतिदिनभुनाऽऽक्रन्दनेनाथ नाथ !
नश्चित्तं हा ! गृहनिवसतां दूयते श्रोत्रगेन ।
ओष्ठं कृष्णं भवति हृदयं वीक्ष्य दीर्णं तथाऽऽस्यम्
इन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥८॥

अन्वय-अर्थ—(नाथ) हे स्वामिन् ! (प्रतिदिनमुना) प्रत्येक दिन के (अस्याः) इसके (श्रोत्रगेन) सुने गये (आक्रन्दनेन) रुदन से (गृहनिवसतां) घर में रहने वाले (नः) हम सबका (हा चित्तं दूयते) मन दुःखित होता है । इसका (ओष्ठं कृष्णम्) अधरोष्ठ काला (वीक्ष्य) देखकर (हृदयंदीर्णम्) हृदय फटा जाता है । तथा (त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेः) आपके अनुसरण करने से फीकी कान्तिवाली (आस्यम्) इसका मुख (इन्दोः दैन्यं बिभर्ति) चन्द्रमा के जैसा दीनता को धारण कर रहा है ।

भावार्थ—हे नाथ ! प्रतिदिन के इसके आक्रन्दन से हम सब घर में रहने वालों का मन बहुत अधिक दुःखित होता है । कृष्ण हुए इसके अधरोष्ठ को देखकर हमारी छाती फटती है । तथा–घनघटा के घिर आने से जिस प्रकार चन्द्रमंडल फीका पड़ जाता है, इसी प्रकार प्रति समय आपके स्मरण करते रहने से उसका मुखमंडल भी आभा-विहीन हो गया है ।

रोती है वो प्रतिदिन तुम्हें ध्यान में नाथ ! लेके,
सो होता है सुनकर हमें चित्त में दुःख भारी ।
काला-काला अधर उसका देख छाती फटे है,
चन्दा जैसा वदन उसका हो गया नाथ ! ऐसा
जैसा होता सघनघन से इन्दु का बिम्ब फीका
मानों स्वामिन् ! अब घर चलो कष्ट क्यों भोगते हो
देखेगी वो रजमति सुता सद्म में आपको—तो
मानेगी वो सफल अपना जन्म पाके तुम्हें ही ।।८।।

नाथ ! आपकी स्मृति से ही वह प्रतिदिन है रोती रहती,
उसके करुणाक्रन्दन को सुन चैन हमें भी नहि पड़ती
दीर्घ उष्ण श्वासों से उसका विद्रुम जैसा लाल हुआ ।
अधर ओष्ठ काला, पाला से मानों सरसिज दग्ध हुआ ।
प्रतिक्षण भाला सा वह करता हृदय विदीर्ण सभी का है ।
अनिष्ट योग मिलने पर कोई कभी न रहता नीका है ।
उसका सुन्दर आनन तो अब ऊजड कानन सा लगता
मेघों से आवृतमयङ्क के बिम्ब तुल्य निष्प्रभ दिखता ।।८।।

आनर्च त्वां मुदितमनसा या पुराऽवेत्य नाथं,
त्वन्मुक्ता सा भवति विकला साम्प्रतं धैर्यमुक्ता ।
गच्छातस्त्वं सुखय सदयो वीक्ष्य केशास्तकान्ति,
तामुन्निद्रामवनिशयनां सौधवातायनस्थः ।।६।।

भावार्थ—हे नाथ ! जिसने आपकी अपना प्राणनाथ मानकर प्रसन्नचित्त से पहिले पूजा की, आपने उसी का परित्याग किया, इसी कारण वह इस समय धैर्य-रहित होकर बड़ी विकल हो रही है, अतः आप जाकर कम से कम उस केशास्त-कान्तिवाली मेरी सुता को उसकी वासभवन की खिड़की से ही देखकर सुखित कीजिये । वह निद्राविहीन हुई जमीन पर ही बैठी हुई आपको दिखेगी ।

पूजा में जो रत नित रही आपकी, सो उसी को
छोड़ा स्वामिन् ! बिन कुछ कहे, आपने ये किया क्या ?

देखो जाके विकल वह है, आपके त्याग से ही,
साता जैसा सुभग क्षण भी एक भी है न, उस्के।
जी में, सो वो सब तरह से ही असाता-युता है,
होवेंगे वे अब नहिं कभी नाथ मेरे, न मैं भी
हो पाऊँगी, अब कहिं कभी हन्त ! पत्नी उन्हों की,
कर्मों की ये अति सबलता हाय ! कैसी अनोखी,
छीना मेरा सुपति जिसने देखते देखते ही
द्वारे आये पर नहिं थमे वे वहां नैक भी तो।
जो वे जाते थम यदि वहां तो मना नाथ को मैं—
लेती, लेती चरणरज को नाथ की माथ पै मैं।
जाने देती फिर नहिं उन्हें रोक लेती अकेली,
हो जाता ये सफल भव औ नाथहीना न होती,
ऐसी ऐसी निजहृदय की वेदना की कथा को,
ज्यों ही धैर्यच्युत बन विभो ! वो सुनाती सभी को।
तो कोई भी जन नहिं तुम्हें नाथ ! अच्छा बताता,
जाओ देखो सदय उसको म्लान हैं केश जिस्के—
वेणी के, औ नयनयुग भी नींद से है विहीन,
स्वामिन् ! उसके यदि न शयनागार में जा सको तो।
बारी से ही बस तुम उसे देखलो सौध की, वो—
चिन्तामग्ना अवनितल पै हाय ! बैठी दिखेगी।
हो जावेगी लखकर तुम्हें वो अधीरा निहाल ॥६॥

भरयौवन में दीक्षा लेकर मुझे नाथ ने है छोड़ी
नोभव से जो चली आरही प्रीति उसे सहसा तोडी
कारण कुछ भी कहा न मुझसे ध्यानमग्न हो गिरिबैठे
कैसे धैर्य धरूं हे सजनी ! साजन ही जब यों रूठे ॥
मेरी जैसी नहीं अभागिन इस जग में नारी होगी
ग्रास हाथ का छीन जिसे विधि ने ठोकर यों दी होगी
ऐसे ही विचार से मेरी सुता विकल नित रहती है
राजमहल में रहती हुइ निज भाग्य कोसती रहती है

जिस आशा के बल पर अबतक वह घर में रहती आयी
उस आशा के तार बिखर गये उसे वेदना है छायी
कान्तिहीन हो मुख पर बिखरे जूडा के वे फीके केश
विरह-वन्हि के मानों ये हैं उद्गत हुए धूम्र अवशेष
जाओ जाओ ! सुखी करो अब सदय नाथ ! उस राजुल को
काजलहीन नींदविन नयना जिसके तरसें स्वागत को
नाथ मानकर विभो ! आपकी जो पूजा में रक्त रही
उसे त्यागकर कहो आपने कौन कमाई भली करी
पृथ्वी-शय्या पर जो बैठी बाट देखती रहती है
जाकर ढांढस उसे बंधावो यही साधुता कहती है
जा न सको यदि शयनकक्ष में तो उसकी ही खिड़की से
उसे देखलोगे तो होगी सुखी दृष्टि की वृष्टी से ।।६।।

याऽनैषीत् त्वद्विविधकथयाऽमा सखीभिर्निषण्णा,
दीर्घां रात्रिं क्षणमिव मुदा स्वीयसौभाग्यजुष्टा ।
तामेवोष्णैं विरहमहती मश्रुभिर्यापयन्तीं,
तां क्लिन्नास्यां करतलागताऽऽगण्डपालीं प्रपश्य ।।१०।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (सखीभिः अमा) अपनी सखियों के साथ (निषण्णा) बैठी हुई (या) जिसने (त्वद्विविधकथया) आपके सम्बन्ध की अनेक प्रकार की चर्चाओं को लेकर (मुदा) प्रसन्न मन से (दीर्घा रात्रिम्) लम्बी-लम्बी रात्रियों को (स्वीयसौभाग्यजुष्टा) अपने सौभाग्य से संतुष्ट बन कर (क्षणमिव) एक क्षण की तरह (अनैषीत्) व्यतीत किया (ताम् एव) उन्हीं रात्रियों को जो कि (विरह महतीम्) आपके विरह से उसे बहुत बड़ी लगती हैं अब (उष्णैः अश्रुभिः) गर्म-गर्म अश्रुओं के साथ (यापयन्तीम्) वह निकाल रही है। ऐसी (क्लिन्नास्याम्) आंसुओं से गीले मुखवाली और (करतलगनागण्डपालीम्) चिन्ता के मारे जिसने अपने गाल को हथेली पर रख लिया है (ताम्) मेरी उस सुता को आप जाकर (प्रपश्य) देखने की कृपा करें।

प्यारे-प्यारे तव गुण-गुणों की कथा के सहारे
रातें जिसकी क्षण सदृश ही चैन से बीतती थीं ।

बैंठे-बैंठे निजभवन में साथ में आलियों के,
वे ही रातें अब विरह की व्योम जैसी घनी सी।
लम्बी-लम्बी बनकर उसे हैं सतातीं रुलातीं,
काटे से भी नहिं विरह की बीतती वे निशाएँ।
सो रोती है विकल बन कें आँसुओं को बहाती,
नेत्रों से वे विगलित हुए अश्रु गण्डस्थली पें।
हो जाते हैं स्थिर फिर उन्हें पोंछती और रोती,
जैसे-तैंसे इस तरह वो हा! विचारी अकेली।
रात्रीयों को क्षपित करती गाल पें हाथ दे दे,
जाओ-जाओ लखकर उसे धैंर्य ही को बँधाओ।
होगा ऐसे सुजस जग में पुण्य का बन्ध होगा,
जो देता है दुखित जन को शांति है साधु वो ही ॥१०॥

बैंठ भवन में कथा आपकी से व्यतीत जो करती थी—
रजनी को सजनीयों के सँग, सुख विभोर औ बनती थी,
अमन चैन से हरी भरी वे रातें बातों–बातों में।
क्षण सम होकर निकली जिसकी सुख भरती थीं गातों में,
पर हा! अब वे ही तो रातें उसको ही विलपाती हैं।
कलपाती हैं डरपाती हैं जी को और जलाती हैं,
नभस्थली के तुल्य असीमित लगती हैं वे बड़ी–बड़ी।
मरी हुई को मार रहीं जो वे ही रातें घड़ी–घड़ी,
निद्राभंगरूप में ताना देकर यों धमकाती हैं।
"कहां गये वे तेरे बालम कह, कह कर चमकाती हैं,
पहिले के वे सभी मनोरथ देख कहां किस बाट पड़े।
जिनके लिये सजाये तूने थे तन में शृङ्गार बड़े,
सो-सो बाट ठाट सब हो गये नहीं एक भी दिखता है।
नयन युग्म जिनके तकने को तेरा हाय तरसता है,
ऐसे तानों से ही मानों उसके नेत्र बरसते हैं।
अश्रु नरी के अरमानों के रक्षकदल से बनते हैं,

घरे गाल पर हाथ सोचती उनको मैं कैसे पाऊँ,
धैर्य बँधाओ नाथ ! साधु हो तुमको, मैं क्या समझाऊँ ।।१०।।

अस्माकं विश्वसिति वचनं न त्वदीयं मनश्चेत्,
गत्वा तर्हि स्वनयनयुगेनावलोक्या सती सा ।
जानीमस्तां वयमतिजडास्त्वन्निमग्नैकबुद्धिम्,
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम ।।११।।

अन्वय अर्थ—हे नाथ ! (चेत्) यदि (त्वदीयं मनः) आपका मन (अस्माकं वचनम्) हम लोगों की बात पर (न विश्वसिति) विश्वास नहीं करता हो (तर्हि) तो (गत्वा) जा करके (सा) उसे आप (स्वनयनयुगेन) अपनी आंखों से (अवलोक्या) देख लें (वयं) हम लोग तो (अतिजड़ाः) बिलकुल मूर्ख हैं । सो (तां त्वन्निमग्नैकबुद्धिम्) उसे "वह आप में ही दत्तचित्त है" ऐसा ही (जानीमः) जानते हैं । इसलिये (साभ्रे अन्हि) वह मेघ वाले दिनों में (स्थलकमलिनीम् इव) स्थलकमलिनी के ममान (न प्रबुद्धां न सुप्ताम्) न सोती है और न जगती है । उसकी तो कोई अपूर्व ही स्थिति है ।

भावार्थ—हे स्वामिन् ! हो सकता है कि जो कुछ हमने आपसे राजुल की स्थिति के सम्बन्ध में प्रकट किया है उस पर आपको विश्वास न हो तो प्रार्थना यही है कि आप एकबार वहां पधार कर स्वयं अपनी आंखों से उसकी परिस्थिति का अध्ययन करें, हम तो सामान्यजन है और उसकी दयनीय। दशा देखकर यही समझे हुए हैं कि उसकी इस प्रकार की दुर्दशा का कारण आपका विरह ही है । अतः मेघों से आच्छादित दिवस में जैसे स्थलकमलिनी न प्रफुल्लित होती है और न मुकलित ही। वैसे ही वह न तो सचेत हैं और न अचेत ही; अपूर्व ही उसकी हालत है ।

स्वामिन् ! मेरे कथन में जो न विश्वास हो, तो,
जाके देखो नयन अपने से स्वयं नाथ ! उस्को ।
हे वो मग्ना बस इक तुम्हीं में यही जानते हैं,
देखोगे तो इस कथन में तथ्यता ज्ञात होगी ।
जैसी होती स्थलकमलिनी मेघ वाले दिनों में,
ऐसी ही है इस समय वो जागती है न सोती ।।११।।

नाथ ! आपको मेरे कहने पर होता यदि नहिं विश्वास,
तो जा करके स्वयं देख लें उस दुखिया को बनी उदास।
हम तो अब तक यही समझते "वह अपने मनमन्दिर में,
देव बनाकर तुम्हें बिठाये है इस पूर्ण बवन्डर में।
अतः लीन वह दीन तुम्हीं में हैं सो विरह वेदना से।
ऐसी आकुल व्याकुल है हम कह न सकें इस रसना से,
दुर्दिन में होती है जैसी स्थलकमलिनी हा ! बेहाल।
ठीक दशा वैसी है उसकी नहिं प्रबुद्ध नहिं सुप्त अबार, ।।११।।

इतस्तत्सखीनां निवेदनं प्रारभ्यते—
एतासु काचित् तस्या अन्तर्वेदनां स्ववचनैर्व्यनक्ति—

इत्थं तस्या व्यसनभरितं वृत्तमावेद्य सम्यक्,
तूष्णींभूते पितरि च तदा प्रोक्तमालीभिरेतत्।
त्यक्ता राजीमतिरतिसती या त्वया कृत्यमेतत्,
अश्लाघार्हं जगति भवतो वाच्यताऽऽधायि जातम् ।।१२।।

अन्वय अर्थ—(इत्थं व्यसनभरितं) इस प्रकार के कष्टों से भरे हुए (तस्याः वृत्तमावेद्य) राजुल के वृत्तान्त को सुनाकर—कह कर (पितरि तूष्णींभूते) उसके पिता जब चुप हो गये (तदा) तब (आलीभिः) राजुल की सखियों ने (एतत् प्रोक्तम्) यह कहा कि (अतिसती या राजमतिः त्वया त्यक्ता) जो आपने सती-साध्वी राजुल का परित्याग किया है सो (एतत् कृत्यम्) यह काम (अश्लाघार्हं) आपकी प्रशंसा के योग्य नहीं होकर (जगति) संसार में (भवतः वाच्यताधायि) उल्टी आपकी निंदा कराने वाला ही (जातं) हुआ है।

भावार्थ—जब राजुल की व्यथा कह कर उसके पिता चुप हो गये तब राजुल की सखियों ने नेमि से कहा कि आपने राजुल का त्याग कर जगत में अपना आदर्श उपस्थित नहीं किया किन्तु इससे तो आप जगत के समक्ष निंदा के ही पात्र बने हैं।

दुख से भरित वृत्त राजुल का इस प्रकार से कह करके,
चुप जब पिता हुए, सखियों ने अपना मौन भंग करके।

कहा—नाथ ! नहिं किया आपने यह कारज अभिशंसा योग्य,
राजुल का परिहार बना है सिर्फ आपकी निंदा योग्य ।।१२।।

स्वामिन् ! राज्या सह निवसनादेव चन्द्रश्चकास्ते,
भास्वत्कान्त्या रविरपि तथा सत्तडागोऽब्जलक्ष्म्या ।
एवं मर्त्यः शुभकुलजया धर्मपत्न्येति मत्वा,
तां स्वीकृत्याचर गृहिवृषं स्यास्ततस्त्वं मुनीन्द्रः ।।१३।।

अन्वय अर्थ—(स्वामिन्) हे नाथ ! (राज्या सह निवसनात् एव) रात्रि के साथ रहने से ही (चन्द्रः) चन्द्रमा (चकास्ते) चमकता है, (भास्वत् कान्त्या सह निवसनात् एव) अपनी चमचमाती हुई कान्ति के साथ रहने से ही (रविः अपि तथा) सूर्य उद्दीपित होता है (सत्तडागः अब्जलक्ष्म्या सह निवसनात् एव) और सरोवर कमलश्री के साथ रहने से ही सुहावना लगता है, (एव) इसी प्रकार (शुभकुलजया धर्मपत्न्या सह निवसनात् एव) अच्छे प्रशस्त कुल में उत्पन्न हुई धर्मपत्नी के साथ रहने से ही (मर्त्यः) मानव शोभित होता है (इति मत्वा) ऐसा मानकर (त्वं तां स्वीकृत्य गृहिवृषं आचर) आप पहिले उस राजुल को स्वीकार करके गृहस्थ धर्म पालो—(ततः मुनीन्द्रः स्याः) बाद में मुनि धर्म अंगीकार करो ।

भावार्थ—हे स्वामिन् ! जिस प्रकार रात्रि के साथ रहने से चन्द्र मण्डल शोभित होता है, अपनी प्रखर कान्ति के साथ रहने से ही सूर्य आकाश में दमकता है और पद्मश्री के साथ रहने से सरोवर सुहावना दिखता है—उसी प्रकार सुकुल प्रसून सद्गृहिणी के साथ रहने से मानव की शोभा होती है । अतः आप पहिले राजीमति के साथ रहकर गार्हस्थिक जीवन अपनाइये और फिर बाद में मुनि जीवन में उतरिये ।—

स्वामिन् ! जैसे विधु चमकता रात्रि का योग पाके,
पूषा भी तो ज्वलित छवि के योग से दीप्त होता ।
होता शोभा सहित सर भी कंज की कान्ति से ही,
ऐसे ही है मनुज खिलता योग से सन्नरी के ।
सो हे स्वामिन् ! प्रथम बनिये आप गेही, गृहस्था—
चारों का पालन कर बनों आप देशव्रती, सो—

धीरे-धीरे अणुव्रत समाराधना-साधना से,
हो जावेगा अनुभव तुम्हें पूर्ण संयम निभाने—
का, सो रामा तजकर विभो ! आप होना मुनीन्द्र ॥१३॥

नाथ ! योग पाकर क्षणदा का चन्द्र चमकता जैसे है,
भास्वर कान्ति छटा से युत हो सूर्य दमकता जैसे है ।
सरवर जैसे कमलश्री से जनमन मोहक बनता है,
वैसे ही सत्पत्नी से ही मानव खूब निखरता है ।
सच तो है सत्पत्नी से ही युक्त चमकता मानव है,
उसके सदाचार से खिलता नवजीवन का उपवन है ।
जीवन उसका मौलिक बनता धर्म चेतना के बल से,
जन-मन-दुर्बलताएँ ढलती जातीं उस ही सम्बल से ।
"मूल" भूल से समय-समय पर वह सचेत करती रहती,
स्वयं संभल कर चलती घर को खूब सँभालकर है रखती ।
उसके धार्मिक व्यवहारों से वातावरण सुधरता है—
घर का—, घर आने वालों का धर्म-कर्म सब सधता है ।
तो फिर क्यों ठुकराते स्वामिन् ! ऐसी घर की लक्ष्मी को,
जगत नहीं अच्छा कहता है क्यों सहते बदनामी को ।
राजुल के संग रहकर घर पर अणुव्रत का साधन करके,
धरो पूर्ण संयम को स्वामिन् ! राजुल को फिर तज करके ॥१३॥

रात्री रम्या न भवति यथा नाथ ! चन्द्रेण रिक्ता,
कासारश्रीः कमलरहिता नैव वा संविभाति ।
लक्ष्मीर्व्यर्था भवति च यथा दानकृत्येन हीना,
नारी मान्या भवति न तथा स्वामिना विप्रमुक्ता ॥१४॥

अन्वय अर्थ—(नाथ) हे नाथ ! (यथा) जैसे (चन्द्रेण रिक्ता) चन्द्रमा विना की (रात्रिः) रात (रम्या न भवति) सुहावनी नहीं लगती है, (कमलरहिता कासारश्रीः नैव वा संविभाति) कमलों से विहीन सरोवरश्री जैसे मन को मुदित नहीं करती है, और (यथा) जैसे (दानकृत्येन हीना) दान से रहित (लक्ष्मीः व्यर्था भवति) लक्ष्मी व्यर्थ

होती है (तथा) उसी तरह (स्वामिना विप्रमुक्ता नारी मान्या न भवति) अपने प्राणनाथ के द्वारा छोड़ दी गई नारी-पत्नी—भी अच्छी नहीं मानी जाती है।

भावार्थ—हे नाथ ! चन्द्र से विहूनी रजनी जैसी सुहावनी नहीं लगती, कमल से विहीन तालाब की मनोरमता जैसी फीकी-फीकी लगती है एवं दान से रहित लक्ष्मी जैसी निंदित होती है उसी प्रकार पति से छोड़ दी गई स्त्री भी लोगों की दृष्टि में अच्छी नहीं मानी जाती है।

स्वामिन् ! जैसे विधु विन नहीं यामिनी है सुहाती।
कासारश्री विन कमल के है न जी को लुभाती।
लक्ष्मी भी तो वितरण विना श्रेष्ठ मानी न जाती,
वैसे ही स्त्री न स्वपतिमुक्ता भाग्यवंती कहाती ।।१४।।

जैसे नाथ ! रात चन्दा विन सूनी–सूनी लगती है,
विना कमल के सरवर शोभा फीकी-फीकी दिखती है।
वितरण विना इन्दरा की भी महिमा नहीं चमकती है,
इसी तरह पतित्यक्ता नारी की गरिमा न दमकती है ।।१४।।

सर्वोत्कृष्टं तव वपुरिदं नाथ ! सौम्याऽऽकृतिस्ते
देहे सत्त्वं प्रबलसुभटैरप्यजय्यं च शौर्यम्।
तस्यां स्वामिन्नपगतधृतौ त्वं भवेर्धैर्यधाता,
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ।।१५।।

अन्वय-अर्थ—(नाथ) हे स्वामिन् ! (इदं तव वपुः) यह आपका शरीर (सर्वोत्कृष्टम्) सब शरीरों की अपेक्षा उत्कृष्ट है (ते आकृतिः सौम्या) आपकी आकृति सौम्य है (देहे सत्त्वं) देह में अपूर्व बल है, (प्रबलसुभटैः अपि अजय्यं च शौर्यम्) बलिष्ठ सुभट भी जिसका सामना नहीं कर सकते ऐसा आपका शौर्य है। अतः (स्वामिन्) हे स्वामिन् ! (अपगतधृतौ तस्यां त्वं धैर्यधाता भव) धैर्य से सर्वथा रहित उस राजुल को आप धैर्य बंधाने की कृपा करें। क्योंकि ऐसा ही देखा जाता है कि (प्रायः) प्रायः (सर्वो भवति करुणावृत्तिः आर्द्रान्तरात्मा) समस्त साधुजन दयालु और सदा मृदुहृदय वाले ही होते हैं, कठोर हृदय वाले नहीं होते।

भावार्थ—इस समय आप साधुवृत्ति वाले हैं, अतः आपका अन्तःकरण दुःखित जीवों के ऊपर दयाशील होना ही चाहिये, इसलिये आप धैर्य से सर्वथा विहीन हुई मेरी सखी को ढांढस बंधाने की कृपा करें।

देहों में है अधिक सबसे आपकी देह श्रेष्ठ,
है संस्थान त्रिभुवनपते ! आपका सोम जैसा।
शक्ति स्वामिन् ! प्रचुर तन में आपके है अनोखी,
योधाओ से अविजित प्रभो ! शौर्य भी है अपूर्व।
ऐसे-ऐसे अनुपम गुणों से विशिष्ट प्रभो ! हो,
तो क्यों होते रजमति सखी पै कृपाहीन नाथ !
जो छोड़ा है इकदम उसे तो दया छोड़ते क्यों ?
ऐसा बाना सदय होता है जरा ध्यान तो दो।
जाके देखो विकल वह है, धैर्य भी खो चुकी है,
सो हे स्वामिन् ! चलकर उसे आप ढांढस बँधावो।
कष्टों से जो व्यथित उनको संत देते सहारा,
"क्योंकि"— आर्द्रात्मा तो अधिकतर होते दयावृत्तिवाले ।।१५।।

नाथ ! आपका यह शरीर सब ही शरीर से उत्तम है,
शांतिप्रद, आकृति में अनुपम तथा कान्ति में विधु सम है।
है भंडार शक्ति का भी यह कमी नहीं किञ्चित् इसमें,
शूरवीर भी जिससे झँपै शौर्य भरा है नस–नस में।
ऐसे–ऐसे निखिल गुणों से जब यह तन परिमंडित है,
तो फिर मेरी आली को क्यों किया दया से वंचित है।
अस्तु हुआ जो हुआ न अब भी सुनो नाथ ! कुछ बिगड़ा है,
गल्ती से सचेत होने पर रहता कहीं न झगड़ा है।
चलो तको अब उसे विकल वह बड़ी न कल क्षणभर उसको,
निष्कारण जो तजा आपने धीरज छोड़ गया उसको।
सो जैसे भी हो वैसे ही धीरज उसे बंधावो अब,
मत विसराओ, भले न उसको पुनः नाथ ! अपनाओ अब।

जो हैं आर्द्र आत्मा वे हैं होते करुणा के धारी,
अनुकम्पा से हीन न होता कभी सिद्धि का अधिकारी ॥१५॥

त्वां सम्प्राप्तुं विविधनियमान् पालयन्तीं सखीं मे,
दैनन्दिन्यां परिगणनया नव्यनव्यान् लिखन्तीम् ।
स्वां निन्दन्तीमशुभवचनैश्चासकृत्सारयन्तीम्,
गण्डाभोगात् कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥१६॥

दृष्टैव त्वं गलितनियमः स्याः स्वयं तां कृशाङ्गीम्,
स्यात्स्वस्थेयं कथमिति भवेत्ते विचारावलिश्च ।
गत्वा क्षिप्रं व्यसनपतितां पश्य तामस्तनिद्रा—,
माकांक्षन्तीं नयनसलिलोत्पीऽरुद्धावकाशाम् ॥१७॥

अन्वय अर्थ—हे नाथ ! (त्वां सम्प्राप्तुं) आपको प्राप्त करने के लिये (नव्यनव्यान् विविधनियमान्) नये-नये अनेक प्रकार के नियमों को कि जिन्हें वह (परिगणनया दैनन्दिन्यां लिखन्तीं) गिन-गिन कर अपनी डायरी में लिखती रहती है, एवं (अशुभवचनैः स्वां निन्दन्तीम्) अशुभवचनों से जो स्वयं की निन्दा करती रहती है और जो (असकृत्) बार-बार (गण्डाभोगात् कठिनविषमां एकवेणीम्) गालों के ऊपर से कठिन रूक्ष, एवं विषम अस्तव्यस्तबालों वाली वेणी को (करेण) अपने हाथ से यथा स्थान करती रहती है ऐसी (मे सखीं पश्य) मेरी सखी को आप दर्शन दें—देखें (तां कृशाङ्गीं दृष्ट्वैव) उस कृश शरीर वाली मेरी सखी को देखकर ही (त्वं स्वयं गलितनियमः स्याः) आप अपने आचार-विचार से शिथिल हो जाओगे और (इयं स्वस्था कथं भवेत्) यह स्वस्थ कैसे हो यह (ते विचारावलिः च भवेत्) आपके मन में विचार आ जावेगा । इसलिये आप (क्षिप्रं गत्वा) शीघ्र जा करके (व्यसनपतितां नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् अस्तनिद्राम्) कष्टपतित और रातदिन के रोने से गई हुई निद्रा की (आकांक्षन्तीम्) चाहना वाली (ताम् पश्य) उस मेरी सखी को देखें ।

भावार्थ—हे स्वामिन् ! मेरी सखी आपको प्राप्त करने के निमित्त अनेक नियमों के पालन करने में निरत है, इससे उसका शरीर बिलकुल कृश हो गया है ।

कहीं नियमों को मैं भूल न जाऊँ एतदर्थ वह उन्हें अपनी डायरी में अंकित कर लेती है। रात दिन वह अपनी मंदभाग्यता की निंदा करती हुई अपने आपको खोटे-खोटे शब्दों द्वारा कोसती रहती है। शारीरिक व्यवस्था के प्रति लापरवाही होने के कारण उसके जूड़ा के केश इधर-उधर मुख पर पड़े रहते हैं. रातदिन रोने के कारण उसकी निद्रा भंग हो गई है। अतः आप चलकर कम से कम एकबार उसे देख तो लीजिये, देखने पर आपका चित्त स्वयं दया से द्रवित हो जावेगा और फिर आप स्वयं ही ऐसी भावना वाले हो जावेंगे कि यह कैसे स्वस्थ हो।

है वो मग्ना विविध नियमों के सखी पालने में,
ऐसी श्रद्धा धर कर मुझे प्राप्ति होगी पिया की।
सो वो उन्हें गिन कर लिखे है स्वदैनन्दिनी में,
ऐसी प्यारी निधि नहिं मिली हूँ महामन्दभाग्या।
ऐसी निंदा प्रति समय में वो स्वयं की करे है,
वेणी बांधे पर वह नहीं ठीक उस्से बंधे है।
सो वे सारे खिसक पड़ते केश छूटे रहे जो,
सो गालों पै पड़कर उसे वे सखेदा करे हैं।
सो वो ज्यों ही पकड़ करके हा ! उन्हें खोंसती है—
वेणी में, त्यों खिसक पड़ते और भी शेष केश।
जैसे-तैसे पुनरपि पुनः है उन्हें वो दबाती,
तैसे-तैसे कुपित बन वे गाल से चौंट जाते।
होती दुःखी तब वह बड़ी, स्वीय दुर्भाग्य की मां,
खोटी-खोटी वचनरचना से विनिन्दा करे है।
शक्ति-क्षीणा प्रतिदिन विभो ! वो हुई जा रही है,
देखोगे तो लखकर उसे आपका मद्विचार।
होगा ऐसा, नृपतितनया स्वस्थ कैसे बने ये,
निद्रा-हीना वह विरह में, हो चुकी क्रन्दनों से।
स्वामिन् ! ऐसी सुनकर दशा आप राजीमती की

जाने में तो अब मत करो ढील थोड़ी, दया भी—
लाओ ऐसे दुखित जन पै क्यों दयाहीन होते,
होगी स्वामिन् ! दरश करके ही विचारी अशोका।
सो निद्रा जो विगत हुइ है वो उसे प्राप्त होगी ॥१६-१७॥

नाथ ! आपके पाने के हित वह कठोरतर नियमों को,
पालन करने में रत रहती छोड़ और सब कामों को,
भूल न जाऊँ कहीं इन्हें मैं दैनन्दिनी में लिखती है,
अगर देखना चाहे कोई उसे न लखने देती है।
कहती है वह—नाथ द्वार पर आये फिर भी नहीं मिले।
वर का बाना छोड़, मोड़ मुख द्वारे से ही लोट गये,
ऐसा मेरा किस भव का यह पाप उदय में आया है,
जिसने मेरे प्राणनाथ को मुझ से हाय ! छुडाया है,
जैसी थी वैसी ही रहती क्यों मैं ऐसी बनी बनी
यह कैसी विधि की विडंबना सधवा रही न विधवा ही,
न जाने मुझ पापिन ने किस भव में परपति विलग किया,
जो इस भव में पति विछोह का विधि ने मुझको दुःख दिया,
मैं हूं कितनी दुर्भागिन जो हा ! स्वामी से त्यक्त हुई
ऐसी अपनी निंदा करती प्रतिक्षण गदगद कंठ हुई,
नाथ ! देखते ही कृश एवं क्षीणशक्ति उस दुखिनी को,
पत्थर सा कठोर दिल होगा मोम छोड़ निज करनी को
स्वयं विचारावलि तब होगी उदित मुदित यह कैसे हो
हो यह कैसे स्वस्थ दुःख से भी विहीन यह कैसे हो
छोड़ी जब से नाथ आपने निद्रा ने भी उसे तजा
ना जाने किस पूरव भव के पापों की पा रही सजा,
सजे सजाये सभी ठाट नो बाट हुए, कौतुक सारे—
इधर उधर फिर रहे विचारे मानों वे मारे मारे
नई बनायी डोली भी तो हाय ! धरी की धरी रही,
मांग रह गई आली की सिन्दूर बिन्दु से बिना भरी

अपनी बिखरी चोटी को वह कसकर बांध न सकती है,
उलझी हुई लटों को भी वह हाय ! न मुरझा सकती है,
होते बाप आप बिटिया के पता त्याग का पड़ जाता
ऐसी स्थिति में चैन मैन सा पिघल पिघल कर गल जाता
मुख ऊपर वे पड़ी लटें गालों पर ऐसी दिखती है
मानो विधुमंडल को डसने राहुरश्मियां मचली हैं
रात दिवस आक्रन्दन के आघातों से ही तंग हुई
निद्रा, तंद्रा इसीलिये हे स्वामिन् ! उसकी भंग हुई,
दर्शन-अगद-दान से निश्चित वह स्वास्थित हो जावेगी
रोने से गत हुई नींद भी आकर उसे खिलावेगी ।।१६-१७।।

मध्ये त्यक्त्वा परिणयविधेस्तां समागास्त्वमत्र.
नैतच्छ्लाध्यं चरितमभवत्ते यतो लोकनिंद्यम् ।
शुद्धं स्याच्चेद्भवति जगतस्तद्विरुद्धं न सेव्यम्,
प्राज्ञैरार्यैः कथमिति भवान् नीतिमेतां न वेत्ति ।।१८।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (त्वं परिणयविधेः मध्ये तां त्यक्त्वा) आप विवाह के बीच में उसे छोड़कर (अत्र समागाः) यहां पर आ गये सो (एतत् ते चरितं श्लाध्यं न अभवत्) यह आपका कार्य प्रशंसा योग्य नहीं हुआ है । क्योंकि (लोकनिंद्यम्) ऐसा कार्य लोक में निंदा योग्य होता है । (शुद्धं स्यात्) जो कार्य अच्छा भी हो, पर (चेत् तत् जगतः विरुद्धम्) यदि वह जगत के विरुद्ध होता है तो वह (प्राज्ञैः आर्यैः न सेव्यम्) बुद्धिशाली आर्य पुरुषों के द्वारा सेवनीय नहीं होता है (इति) ऐसी जो (नीतिम्) यह नीति है उसे (कथम्) क्या (भवान् न वेत्ति) आप नहीं जानते हैं ?

भावार्थ—"यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नो करणीयं नाचरणीयम्" जो काम शुद्ध भी हो—पर यदि वह लोक के विरुद्ध है तो उसे नहीं करना चाहिये । ऐसी इस लौकिक नीति को हे नाथ ! आपने कैसे भुला दिया, अतः आपका यह राजुल का भर विवाह में छोड़ना लोकविरुद्ध होने के कारण प्रशंसनीय नहीं हुआ है ।

आये स्वामिन् ! तजकर यहां बीच में जो विवाह,
सो ये अच्छा प्रभु ! नहीं हुआ कार्य है आप द्वारा ।

होवे अच्छा, पर वह नहीं लोक में मान्य हो, तो
प्राज्ञों द्वारा नहिं वह कभी सेव्य माना गया है ॥१८॥

अधव्याही राजुल को तजकर जो आये हो आप यहां,
लोकनिंद्य यह किया आपने कार्य आर्यजन हेय कहा,
नहीं आपको कार्य कभी यह शोभा देने वाला है,
उचित, लोक-अविरुद्ध कार्य नहिं कभी किसी को साला है,
है यह नीति-कार्य अच्छा हो पर वह हो यदि लोकविरुद्ध,
तो वह नहिं कर्तव्य-कोटि में आता गाता सकल प्रबुद्ध,
तो क्यों नाथ ! आप इस उत्तम नीति-रीति को भूल गये,
और भला सबको विसार कर इस पहाड़ पर बैठ गये।

चित्तक्षोभं शमयितुमियं राजपुत्री स्वकीयम्,
संस्थाप्यांके तव प्रतिकृतिं पृच्छति त्वां स्वहार्दम् ।
ब्रूहि ब्रूहि त्यजसि किमिमां नाथ ! मां निर्निदानम्,
प्रायेणैते रमणविरहेष्वंगनानां विनोदाः ॥१९॥

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (स्वकीयं चित्तक्षोभं शमयितुम्) अपने चित्त के क्षोभ को शान्त करने के लिये (इयं राजपुत्री) यह राजपुत्री-राजुल (तव प्रतिकृतिम्) आप की फोटो को (अङ्के संस्थाप्य) अपनी ओली में अच्छी तरह से रखकर (त्वां स्वहार्दं पृच्छति) आप से आपका अभिप्राय पूछती है, कहती है-(ब्रूहि ब्रूहि) जल्दी से जल्दी बताओ (नाथ ! इमां मां निर्निदानं किं त्यजसि) नाथ ! इस मुझ-दुःखिनी को बिना कारण आप क्यों छोड़ रहे हो। सो (एते विनोदा : प्रायेण रमणविरहेषु अंगनानां "भवन्ति") ऐसे चित्त को शान्ति प्रदान करने वाले विनोद प्रायः अपने पतियों के विरहकाल में नारीजनों के होते हैं।

भावार्थ—नाथ ! जब राजुल के चित्त में अशान्ति की मात्रा अधिक बढ़ जाती है तो वह उसके शमनार्थ आपकी प्रतिकृति को अपनी गोद में रखकर आपसे आपके मनोभाव को पूछती है, कहती है हे नाथ ! यह तो बताओ-आप मुझे बिना कारण क्यों छोड़ रहे हैं। इस प्रकार के विनोदों से वह अपनी अशांति को दूर करती रहती है।

स्वामिन् ! मेरी वह प्रियसखी आप में लीनचित्ता—
होने से है तब विरह में क्षुब्ध, सो क्षोभ को वो
जैसे तैसे शमन करने हेतु फोटो तुम्हारी,
ओली में ही रखकर प्रभो ! पूंछती यों तुम्ही से
छोड़ी स्वामिन् ! विन कुछ कहे आपने क्यों मुझे है,
होते प्रायः पति विरह में नारियों के विनोद—
ऐसे ही—सो मरणक्षण से वे उन्हें हैं बचाते ॥१९॥

नाथ ! आप ही में प्रसक्त है चित्त सखी राजीमति का,
सो वह विरह आपके में है बना सद्म दुखसन्तति का,
उसके प्रशमनहेतु आपकी वह आकृति को रखती है—
अपनी गोदी में,—फिर उससे प्रश्न नाथ ! यों करती है,
कारण विना पिया ! क्यों मेरा तुमने यों परिहार किया,
क्या मेरा अपराध हुआ—अब उसे बताओ खोल हिया,
रमणीयों के रमणविरह में प्रायः ऐसे होते हैं ।
मनोभाव—जो मरणचाव से हरक्षण उन्हें बचाते हैं ॥१९॥

चित्तक्लान्ति शमयितुमसौ वादयन्ती विपञ्चीं,
संस्मृत्या ते मुहुरुपगतैरश्रुभिः क्लिन्नगात्राम् ।
संमार्जन्ती भवति नितरां सौम्यमुद्राप्यसौम्या,
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥२०॥

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (चित्तक्लान्ति शमयितुम्) चित्त की बेचैनी को दूर करने के लिये (असौ) यह मेरी सखी (विपञ्चीं वादयन्ती) जब वीणा को बजाती है, तब (ते संस्मृत्या) उसे आपकी याद आ जाती है, इससे (मुहुः उपगतैः अश्रुभिः) बार बार उसे आंसू आ जाते हैं, सो उनसे (क्लिन्नगात्राम्) उसकी वीणा गीली हो जाती है, अतः उसे (संमार्जन्ती) वह साफ करती है सो इस स्थिति में वह (भूयः भूयः स्वयं अपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती) बार बार स्वयं की गई मूर्च्छना को भूल जाती है, इस कारण (सौम्यमुद्रा अपि नितरां असौम्या भवति) वह सुन्दरमुद्रावाली होती हुई भी असुहावनी दिखने लगती है ।

जैसे तैसे शमन करने चित्त के क्षोभ को वो,
वीणा लेके जब जब प्रभो ! बैठती है बजाने ।
त्यों आ जाती त्वरित गति से आपकी याद उस्को,
सो नेत्रों से अविरल बड़ी अश्रु की बिन्दुओं से
हो जाती है सुभग ! उसकी हाय ! वीणा सलोनी
गीली, सो वो सजनि अपनी छोर से शाटिका के
ज्यों ही उस्को झटझट सखी पोंछती है विचारी
सो जाती है विसर अपनी की गई मूर्च्छना को,
हो जाती सो अतिशय दुखी सौम्यमुद्रावती वो,
राहुद्वारा ग्रसितविधु की चाँदनी सी दिखाती
हो जाती है पति विरह में और की और नारी ।।२०।।

चित-अशान्ति के शमन हेतु वह वीणावादन करने को,
होती ज्यों सन्नद्ध आपकी याद सताती है उसको
मोती जैसी अश्रुधार निर्गत हो वीणा पर गिरती
बजती नहीं बजाने पर तब उसे साफ करने लगती

सो वह नाथ ! मूर्छना को ही भूलविसर इकदम जाती
चिन्तित, व्यथित, अनमनी बनकर कर पर कर धर पछताती
अतः सौम्यमुद्रायुत भी वह विरहताप से तपती है
दीन, क्षीणतन, मलिनवदनयुत सो असौम्य ही दिखती है ।।२०।।

आलिख्य त्वां गिरिवरगतं त्वत्पदं स्प्रष्टुकामा,
तावन्मूर्छापरिवृततनुर्यावदुत्तिष्ठतीयम् ।
सख्या हीना पतति भुवि सा छिन्नवल्लीव, वास्त-
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ।।२१।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (गिरिवरगतं त्वां आलिख्य) पहाड़ पर बैठे हुए रूप में आपको चित्रित करके (इयम्) यह मेरी सखी (त्वत्पदं स्प्रष्टुकामा यावत् उत्तिष्ठति) आपके चरणों को छूने की इच्छा से ज्योंही उठती है (तावत् मूर्छापरिवृततनुः) त्योंही इसका शरीर मूर्छा से आक्रान्त हो जाता है । सो (सख्या हीना छिन्नवल्लीव भुवि सा

रनति) सखी से हीन वह कटी हुई लता की तरह जमीन पर गिर पड़ती है। कहती है—मेरा अशुभ कर्म कितना निर्दय है जो इस दशा में भी हम दोनों के मिलाप को सहन नहीं कर सकता है।

भावार्थ—हे स्वामिन् ! मेरी सखी आपको पहाड़ पर बैठे हुए रूप में चित्रित करके ज्यों ही आपके चरणों को छूने के लिये खड़ी होती है कि उसी समय उसे मूर्छा आ जाती है और वह कटी हुई लता की तरह पृथ्वी पर गिर पड़ती है। कहती है देखो ! मेरा अशुभ कर्म कितना प्रबल है जो इस दशा में भी मुझे मेरे नाथ के चरणों को नहीं छूने दे रहा है।

पट्टे पै वो गिरिगत प्रभो ! आपकी मूर्ति प्यारी
रंगों द्वारा रचित करके औ उसे लोचनों के—
आगे अच्छी तरह रखके, आपके अङ्घ्रि छूने
ज्योंही होती उठकर खड़ी शीघ्रमूर्च्छा उसे त्यों
आजाती, सो पतित क्षिति पै छिन्नमूला लता सी—
हो जाती वो, उस समय में नाथ ! ये ही कहे है
देखो मेरा अदय कितना हाय ! दुर्दैव है ये
छूने देता नहिं चरण जो नाथ के हाथ से भी
ऐसी कैसी विधि-सबलता मारती जो मरी को ।।२१।।

गिरि पर बैठे नाथ ! आपको पहिले मन में चित्रित कर
फिर अङ्कित वह तुमको करती पट्टे पर, रँग भर भर कर
रख कर लोचन के समक्ष वह चरणस्पर्शन करने को
होती खड़ी कि आ जाती है मूर्च्छा वर्जन करने को

गिर पड़ती है हाय ! विचारी छिन्नलता सी भूपर वह
औ सचेत होकर यों कहती, कैसा विधिविलास है यह
जो प्रिय के पावन पग तक को मुझे न छूने देता है
इतना क्या अपराध किया जो मुझ से यह यों कुढता है,
ऐसी हालत में भी निर्दय यह वैरी विकराल विधि—
हम दोनों के क्षणिक मिलन को भी सहता जो न कुधी ।।२१।।

आधिक्षामा मलिनवसना केशसंस्काररहीना,
दुःखोद्रेकाद्विरससरसाऽऽहारतुल्याऽबला सा।
त्वन्नाम्नैव प्रमुदितमना वृत्तमेतद्गते स्यात्,
प्रत्यक्षं ते निखिलमचिराद् भ्रातरुक्तं मया यत् ।।२२।।

अन्वय-अर्थ—(सा अबला) वह बलविहीन सखी राजुल (आधिक्षामा) मानसिक चिन्ता के कारण शारीरिक शक्ति से भी विहीन हो गई है, (मलिन वसना) ओढ़ने पहिरने के कपड़े उसके मलिन हो गये हैं। (केशसंस्काररहीना) केशों का संस्कार करना उसने छोड़ दिया है। (दुःखोद्रेकात्) दुःख की अधिकता को लेकर उसे सरस और नीरस आहार में भेद बुद्धि नहीं रही है, थोड़ी बहुत प्रसन्नता का कारण (त्वन्नाम्ना एव प्रमुदित मनाः) यदि उसे है तो वह आपका नाम ही है, (एतत् निखिलं वृत्तं) यह समस्त उसका वृत्तान्त (भ्रातः यत् मया उक्तम्) हे नेमि भाई! जो मैंने कहा है सो वह (गते) वहां पहुँचने पर (अचिरात्) स्पष्टरूप से शीघ्र ही (ते प्रत्यक्षं स्यात्) आपके जानने में आ जायगा।

भावार्थ—हे नेमि भाई! वह मेरी सखी राजुल "पति से त्यक्त होने पर नारी की क्या परिस्थिति होती है" इसकी साक्षात् मूर्ति बनी हुई है, मानसिक चिन्ता ने उसकी शरीरसंपत्ति को असमय में ही तहस नहस कर दिया है। उसके संस्कार विहीन केश और मलिन वस्त्र दुःख के आधिक्य को उसमें प्रकट करते हैं। जो सरस नीरस आहार उसे मिल जाता है उसे वह बिना कुछ कहे खा लेती है। हां? अभी तक जो उसका इस हालत में भी जीवन टिका हुआ है उसका एकमात्र कारण आपका नाम ही है, जब वह आपका नाम सुनती है तो उसके चेहरे पर प्रसन्नता नाचने लगती है। अतः यह सब उस की हालत जो कही जा रही है वह सत्य है अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है। यह सब वहां आपके पधारने पर आपको स्पष्टरूप से प्रतीति में आ जावेगा।

थी ना ऐसी बिल्कुल हमें स्वप्न में कल्पना भी,
"हो जावेगी विरहक्षरण में यों सखी नाथ! मेरी।
चिन्ताम्लाना, विरससरसाहारतुल्या, अशक्ता,
आधिक्षामा, मलिनवसना केशसंस्काररहीना"

हो जाती है मुदित जब वो आपके नाम से ही
तो जाना ही उचित लगता नाथ ! ऐसी दशा में
हो जावेगा यह सब कहा वृत्त प्रत्यक्ष सारा
जाते ही व्हां, फिर कुछ नहीं, आपसे मैं कहूंगी ।।२२।।

बिना नाथ की हूं मैं, कैसे अब सुहाग का भेष धरूं,
सुन्दर सेज वसन से कैसे इस शरीर को सुखित करूं,
इन घुंघराले काले बालों को तेलों से चिकना कर
क्यों अब इन्हें सजाऊं सजनी साजन बिन अपने शिर पर
ऐसी ऐसी बातें कहकर फिर वह रोने लगती है
उसके रुदन श्रवण से सबकी, छाती हा ! हा ! फटती है
चिन्ता ने उसके शरीर को नाथ ! सुनो जर्जरित किया
तेलों से रूखे केशों ने मेलजोल को त्याग दिया
दीन हीन तनक्षीण मृगी सी बीणावादन में तव नाम,
वह सुनती—तो मुदितचित्त हो इधर उधर तकती अविराम ।
सरस विरस भोजन का अन्तर उसे ज्ञान नहीं होता है,
जाने पर ही उक्तवृत्त यह नाथ ! ज्ञात हो सकता है ।।२२।।

अस्याः कान्तं नयनयुगलं चिन्तया स्पन्दशून्यं,
रुद्धापांगं चिकुरनिकरै रंजनभ्रूविलासैः ।
हीनं मन्ये त्वदुपगमनात्तत्तदा स्वेष्टलाभात्,
मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ।।२३।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! यद्यपि (अस्याः) सखी का (कान्तम्) सुहावना (नयनयुगलम्) नेत्रयुगल (चिन्तया स्पन्दशून्यम्) चिन्ता से चंचलता विहीन हो गया है, उसकी (चिकुरनिकरैः) बालों से-भ्रू के बालों—से—कोरे ढंक गई हैं और (अंजनभ्रूविलासैः हीनम्) वह अंजन एवं भ्रूविलासों से रहित भी हो चुका है, तब भी (त्वदुपगमनात्) आपके वहां जाने पर (तत्) वह नयनयुगल (तदा) उस समय (स्वेष्टलाभात्) स्वेष्टलाभ हो जाने के कारण (मीनक्षोभात्) मीनों की चंचलता से क्षुभित हुए (चलकुवलयश्रीतुलां एष्यतीति मन्ये) चंचलकमल के जैसी शोभा को धारण करेगा ऐसा मैं मानती हूं ।

भावार्थ—हे नाथ उसका मनोहर नयनयुगल आपकी फिकर के कारण निमेष विहीन हो गया है, भ्रू के बड़े-२ बालों से वह ढक गया है, अंजन और भ्रू के विलास उससे कभी की विदा ले चुका हैं। फिर भी आपके वहां पहुँचने पर वह उसका नयन युगल आपको देखते ही चञ्चलकमल के जैसा खिल उठेगा। ऐसी मेरी मान्यता है।

चारू स्वामिन्! नयन उसके हो गये स्पन्दशून्य
कोरों पै ही चिकुर सगरे हैं पड़े ही दिखाते,
काले प्यारे मसृण सुरमे की न रेखा वहां है
दोनों भ्रू भी इस समय में हैं विलासों विहीना,
जाने से वे लखकर तुम्हें स्वेष्ट के लाभ से ही
मीतक्षोभप्रचलितपद्मश्रीतुला को धरेंगे।।२३।।

नाथ! आपकी तरफ टकटकी सिर्फ लगाये बैठी है
समझाते हैं पर न समझती प्रत्युत रोती कहती है
"द्वारे आये दूल्हा बनकर पर वे क्यों नहिं मुझे मिले,
खिले मनोरथ हाय! न मेरे बिना खिले ही सूक चले
जिन्हें संजोकर मनमन्दिर में हरदम मैंने रक्खा है
हाय! आज उनने ही मुझको दिया अचानक धक्का है"
काले छूटे केश नेत्र की कोरों पर बिखरे रहते
जलती भीतर विरह वन्हि के धूमतुल्य जो हैं दिखते
काजलहीन दीन नयनश्री उसकी यही बताती है
इष्टविरह की व्यथा सती का काजल तक ले जाती है
रहते और देखते इनने उन्हें न कुछ भी समझाया
इसीलिये भ्रू के विलास ने आंखो को है ठुकराया
सखी-मोह से अतः नाथ! अब ऐसी आशा ही धरके
आयी हूं मैं पास आपके लेने आप कृपा करके
शीघ्र पधारो राजभवन में सखी-नेत्र खिल जावेंगे
तुम्हें निरख कर, झष से चञ्चल कंज श्री को धारेंगे।।२३।।

नेम्यभ्यर्णे राजीमत्या, प्रेषितं संदेशं प्रकटयति—

सारंगाणां विलपतरवं केवलं त्वं निशम्य,
मामत्याक्षीः, वरमिह परं जीवबाधां निरीक्ष्य ।
मा मुञ्चस्त्वं विपुलकरुणाधार ! तां मुक्तिकान्तां,
त्वामुत्कंठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥२४॥

अन्वय-अर्थ—(त्वम्) हे नाथ ! आपने (केवलम्) सिर्फ (सारङ्गाणाम्) मृगों के (विलपतरवम्) आक्रन्दन को (निशम्य) सुनकर ही (माम्) मुझे (अत्याक्षीः) छोड़ दिया, सो (वरम्) अच्छा किया, (परम्) परन्तु (इह) इस जगत में (जीवबाधां निरीक्ष्य) जीवों की मारण ताडन आदि रूप बाधा को अपनी आंखों से देखकर (विपुल-करुणाधार) हे परमदयाके अवतार (त्वम्) आप (तां मुक्तिकान्ताम्) उस अपनी प्रेयसी मुक्तिकान्ता को (मा अमुञ्चः) मत छोड़ देना (त्वां उत्कंठाविरचितपदं मन्मुखेन इदं आह) ऐसा तुम्हें उत्कंठित पदों से रचित यह संदेशरूप वचन मेरे मुख के द्वारा आपके पास उस सखी ने भेजा है ।

भावार्थ—अपनी सखी के द्वारा राजुल ने जो संदेश अपने नेमि पिया के पास हारकर भेजा है उसे प्रकट करती हुई सखी उनसे कहती है करुणावतार हे नाथ ! आपने तो मुझे केवल हिरणों की करुण आवाज को सुनने मात्र से ही छोड़ दिया परन्तु संसार के प्राणी नाना प्रकार की वेदनाओं से वध-बंधन आदि अनेक विध दुःखों से तड़फते रहते हैं, रोते और चिल्लाते रहते हैं । सो उनकी उन व्यथाओं और कष्टों को देखकर कहीं ऐसा न कर बैठना कि उस मुक्तिरूपी वधू को भी आप छोड़ दें ।

सारंगों के सुनकर प्रभो ! आपने क्रन्दनों को
जैसे छोड़ा इकदम मुझे, छोड़ ऐसे न देना—
मुक्ति-स्त्री को, जगतजन की देख आपत्तियों को
ऐसा उत्कंठितपदयुता है पठाया सँदेशा ॥२४॥

छोड़ा नाथ ! आपने मुझको हिरणों की सुन करुण पुकार
जैसे—वैसे जगजीवों की बाधा लखकर अपरंपार
छोड़ न देना मुक्तिस्त्री को क्योंकि आप हो करुणागार,
ऐसा उद्बोधक संदेशा भेजा तुम्हें सखी ने हार ॥२४॥

धातुर्लीला विविधघटनाघट्टनेऽस्ति प्रवीणा,
द्रष्टाऽऽवाभ्यां स्वनयनभुवाऽध्यक्षतः साम्प्रतं सा ।
त्वं तं माष्टुं तपसि निरतोऽभूर्न वच्म्यत्र किञ्चित्,
कांक्षे वाञ्छा भवतु सफला सिद्धिकान्तां लभस्व ।।२५।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (धातुः लीला) विधि–भाग्य–की लीला–विधान (विविधघटनाघट्टने) अनेक प्रकार की घटनाओं के निर्माण करने में (प्रवीणा अस्ति) प्रवीण है (सा आवाभ्यां स्वनयनभुवा अध्यक्षतः साम्प्रतं द्रष्टा) सो यह उसकी लीला हम दोनों ने अपनी आंखों से इस समय देखली है। (त्वं) आप (तं माष्टुं) उस विधि को माफ करने के लिये–विनष्ट करने के लिये–(तपसि निरतः अभूतः) तपस्या में लीन हुए हो, सो (अत्र) इस विषय में (किञ्चत् न वच्मि) मैं आपसे कुछ नहीं कहती हूं, (कांक्षे) मैं तो यही चाहती हूं कि (वाञ्छा) आपकी इच्छा (सफला भवतु) सफल होवे और आप (सिद्धिकान्तां लभस्व) सिद्धिकान्ता प्राप्त करें।

भावार्थ—हे नाथ ! विधि का विधान अनेक प्रकार की अप्रत्याशित विलक्षणताओं में ओतप्रोत है, यह बात हमने और आपने आज प्रत्यक्ष देखली है। आप जो विधि को विनष्ट करने के लिये तपः साधना में लीन हुए हो सो यह बहुत ही सुन्दर कार्य आपने किया है, मैं तो यही अब चाहती हूं कि आपकी तपः साधना सफल होकर आपको सिद्धि कान्ता का वह पति बनावे।

आंखों से ही विधिविलसता की भलां देखलीं हैं
वे वे बातें नहि खबर थी स्वप्न में भी जिन्हों के—
हो जाने की–अब तुम प्रभो ! सो उसे ही मिटाने,
वैरागी होकर बस यहां से गये छोड़ नाना
हो जावे वो तप सफल ये ही प्रभो ! चाहती हूं
मुक्तिस्त्री का झटिति जिससे आपको लाभ होवे ।।२५।।

विविधविधाओं से परिपूरित, है–विधि का विधान न्यारा
हम तुमने यह देख लिया है अपनी आंखों से सारा
इस विडंबना से सचेत हो आप हो गये वैरागी
मैं इस पर क्या कहूं आपसे, क्योंकि मैं हूं मन्दभागी
मेरी अन्तिम यही कामना तरुणतपस्विन् ! सफल बनो—
आत्मसाधना से हन विधि को मुक्तिस्त्री के कन्थ बनो ।।२५।।

मामुज्झित्वा भवति च भवान् मुक्तिकान्तानुरागी,
रागद्वेषौ भवति भवतो नाथ ! वृत्याऽनया तु।
तत्सद्भावे कथमिव भवेर्मुक्तिनार्याऽभिलाष्यः,
इत्यारेकां मनसि निहितां ज्ञापय त्वं निरस्य ॥२६॥

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (भवान्) आप (माम् उज्झित्वा) मुझे छोड़कर (मुक्तिकान्तानुरागी भवति) मुक्तिकान्ता में अनुरागशाली बन गये हैं (अनया वृत्त्या भवति रागद्वेषौ भवतः) तो आपमें ऐसी प्रवृत्ति से रागद्वेष स्पष्ट जाहिर हो रहे हैं। (तत्सद्भावे) इन दोनों के सद्भाव में साधक आप (मुक्तिनार्या अभिलाष्यः कथमिव भवेः) मुक्तिरूपी कान्ता के द्वारा अभिलाष्य कैसे हो सकते हो (मनसि निहितां इत्यारेकां) मेरे मन में स्थित इस प्रकार की शंका को (त्वं निरस्य) आप दूरकर के मुझे (ज्ञापय) समझावें।

भावार्थ—हे नाथ ! साथ में उसने यह भी निवेदन किया है कि मुझे छोड़कर जो आप मुक्तिस्त्री की चाहना में पड़ गये हैं, सो इस प्रकार की विचारधारा आपमें राग और द्वेष की साधक हो रही है। अतः मुझे यह संदेह हो रहा है कि मुक्तिस्त्री आपको कैसे प्राप्त हो सकेगी, क्योंकि वह तो रागद्वेष के सर्वथा अभाव वाले साधक को ही प्राप्त होती है। सो आप आकर मेरी इस शंका का समाधान करने की कृपा करें।

ज्यों देती है तज निधि नरी दुर्भगा को, तजो त्यों,
स्वामिन् ! हा ! हा ! बिन कुछ कहे आपने भी मुझे है।
सो चिन्ता की यह नहिं प्रभो ! बात है कोइ किञ्चित्,
चिन्ता की तो बस वह यही है कि जो मुक्तिस्त्री में—
स्वामिन् ! रागी तुम बन गये, वीतरागी रहे ना,
सो रागी को वह नहिं विभो ! स्वप्न में चाहती है
ऐसी शंका मम हृदय में नाथ ! जो आ गई है
मेटो उसको सब तरह से, हो प्रबोधप्रदाता ॥२६॥

मुझ को तजकर नाथ ! आपने बड़ी कौनसी बात करी,
मुक्तिस्त्री के चुंगल में जो आप फँस गये उसी घरी,

राग-द्वेष से बचने को तो नाथ ! आपने मुझे तजा
मुक्तिवधू की ममता से पर राग आपने कहां तजा,
पर यह बात आप सच मानों रागी से वह भगती है,
वैरागी पर ही वह अपने प्राण निछावर करती है,
रागी होने से वह कैसे नाथ ! तुम्हें अपनावेगी,
ऐसी मेरी शंका तुम बिन हल कैसे हो पावेगी
अतः आप आकर के मेरी कम से कम इस शंका को
समाधान कर करो तपस्या तज दूंगी तव कांक्षा को ।।२६।।

मन्येऽहं स्वां गलितसुकृतां दुष्कृताढ्यामधन्यां,
सेव्यो यस्त्वं न खलु मयकाऽऽराधितो यद्भवेऽस्मिन् ।
स्यात्ते रत्नत्रयमनुपमं पूर्णमाशु प्रशुद्धं,
काम्यां स्वीयां प्रकटयति सा त्वच्छुभाकांक्षिणीत्थम्।।२७।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (अहम्) मैं (स्वाम्) अपने आपको (गलितसुकृताम्) पुण्य से सर्वथा विहीन (दुष्कृताढ्याम्) एवं अत्यन्त पापिनी तथा (अधन्याम्) सर्व प्रकार से अयोग्य (मान्ये) मान रही हूं (यत्) क्योंकि (सेव्यः यः त्वम्) हर प्रकार से सेवनीय–आराधनीय–आपकी (मयका) मुझ अभागिन ने (अस्मिन् भवे) इस भव में (न आराधितः) आराधना सेवा नहीं कर पायी हैं । (ते अनुपमं रत्नत्रयं आशु) आपका सर्वोत्कृष्ट रत्नत्रय शीघ्र (प्रशुद्धं) विशुद्ध होकर (पूर्णम्) पूर्ण हो (इत्थं) इस प्रकार की (त्वच्छुभाकांक्षिणी) आपके कल्याण की कामना करने वाली (सा) वह मेरी सखी (स्वीयां काम्यां प्रकटयति) अपनी भावना प्रकट कर रही है ।

भावार्थ—हे नाथ ! जो मैं इस भव में आराधनीय आपकी आराधना करने से वंचित हो रही हूं सो मैं अपने आपको पुण्यहीन पापिष्ठा मान रही हूं । मेरी अब यही आपके प्रति मंगल कामना है कि आपका रत्नत्रय निर्मल होकर शीघ्र पूर्णता को प्राप्त हो ।

पापिष्ठा हूं गलितसुकृता और हूं मैं अधन्या,
क्योंकि स्वामिन् ! नहिं कर सकी नाथ आराध्य की जो,

सेवा पूजा इस भव विषें, अस्तु—हे कान्त ! ऐसी
इच्छा मेरी अब इक यही—आपका शीघ्र होवे—
सम्यक् रत्नत्रय गुणनिधे ! मुक्तिलक्ष्मी—प्रदाता
पूरी—पूरी सफल जिससे साधना आपकी हो. ।।२७।।

नाथ ! आपकी सेवा से इस भव में वंचित रहने से,
मान रही हूं मैं अपने को भाग्यहीन पापिन इससे,
जो बीती सो बीत चुकी वह इसका अब कुछ सोच नहीं,
हो सुकुमार पलेगा कैसे तुमसे चारित सोच यही,
होवे पूर्ण आपका जल्दी शुभरत्नत्रय नाथ ! यही
हार्दिक पुण्य कामना मेरी मिले मुक्ति की राज्यमही ।।२७।।

कच्चिद्रत्नत्रयमहरहो निर्मलं वर्तते ते,
निर्विघ्ना वा तपसि निरता तेऽस्ति कच्चिन्मुनीन्द्र ।
इत्येवं सा कुशलमबला पृच्छति त्वां गिरिस्थम्,
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव ।।२८।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (ते) आपका (अहरहः) प्रतिदिन (रत्नत्रयम्) रत्नत्रय (कच्चित् निर्मलम् वर्तते) तो निर्मल हो रहा न ? (मुनीन्द्र) हे मुनीन्द्र ! (ते तपसि निरता निर्विघ्ना अस्ति कच्चित्) आपकी तपस्या में लवलीनता तो निर्विघ्न संपादित हो रही न ? (इत्येवम्) इस प्रकार से (सा अबला) वह अबला मेरी सखी राजुल (गिरिस्थम्) पर्वत पर बैठे हुए (त्वां कुशलं पृच्छति) आपसे कुशल पूछ रही है। क्योंकि (सुलभविपदां प्राणिनां एतत् पूर्वाभाष्यं एव) सुलभ विपत्ति वालों की कुशल वार्ता सर्वप्रथम पूछना उचित है।

भावार्थ—आप हे नाथ ! पहाड़ पर विराजमान हैं अतः विपत्ति में पड़ जाना सुलभ और संभावित भी है—इसीलिये उसने आपसे ऐसा पूछा है—कि आपका रत्नत्रय तो निर्मलता की ओर बढ़ रहा है न ! और आपकी तपस्या में किसी प्रकार का विघ्न तो नहीं आ रहा है ?

है तो रत्नत्रय मुनिपते ! आपका वर्धमान ।
बाधा से तो रहित तप है आपका हे तपस्विन्! ।

आयी तो है नहि शिथिलता आपके देह में, यों—
पूछूं हूं मैं यह इसलिये आप हैं पर्वतस्थ
हो सकती है सुलभ विपदा अद्रिवासी जनों को ।।२८।।

नाथ ! आपका रत्नत्रय तो सर्वप्रकार से है अम्लान ?
किसी तरह की बाधा भी तो तप को नहिं करती है म्लान ?
देह आपकी में तो होता नहीं शिथिलता का कुछ भान,
क्योंकि आप इस समय बने हैं ऊर्जयन्त गिरि के महमान
अतः विविध बाधाएँ यहां पर हो सकती हैं विपत निदान
इसीलिये मैं पूछ रही हूं सुखसाता तुमसे भगवान ।।२८।।

जन्मन्यस्मिन्नशुभविधिनाऽकारि नौ विप्रयोगः,
त्वं तत्कर्मक्षपणकरणे बद्धकक्षोऽसि जातः ।
पूर्वोदभूतः परमिह जने त्वद्गतो रागभावोऽ—
नष्टो ज्ञातुं प्रभवति मनो मे प्रभो ! ते प्रवृत्तिम् ।।२६।।

अन्वय-अर्थ— हे नाथ ! (अस्मिन् जन्मनि) इस जन्म में (अशुभविधिना) अशुभ कर्म ने ही (नौ विप्रयोगः) हम दोनों का परस्पर में वियोग (अकारि) करवाया है। सो (त्वं तु) आपतो (तत् कर्मक्षपणकरणे) उस अपकारक कर्म के विध्वंस करने में (बद्धकक्षोऽसि जातः) कमर कसकर तैयार हो गये हो, (परं) परन्तु (इहजने) मेरे भीतर जो (त्वद्गतः पूर्वोद्भूतः रागभावः) पहिले भवों से चला आया हुआ आपके ऊपर राग है वह (अनष्टः) अभी तक नष्ट नहीं हुआ है, सो (मे मनः) मेरा अन्तरङ्ग (ते प्रवृत्ति ज्ञातुं प्रभवति) आपकी प्रवृत्ति को—कुशलवार्ता को-जानने के लिये लालायित हो रहा है।

भावार्थ— हे नाथ ! अशुभ कर्म ने ही इस जन्म में मेरा और आपका यह विछोह करवाया है, सो आप तो उ अपकारी के विनाश करने के लिये कटिबद्ध हो ही गये हो, परन्तु मैं जो अभी तक उसके नष्ट करने में तैयार नहीं हो पा रही हूं—उसका कारण आपके प्रति लगा हुआ मेरा पूर्वसंस्कारजन्य अनुराग है जो कि अभी तक कम नहीं हो रहा है, इसीलिये मेरा मन हर तरह से आपके कुशलवृत जानने के लिये उत्कंठित बना रहता है।

साथी दोनों हम तुम कई हैं भवों के, परन्तु
दुष्कर्मों ने इकदम इसी जन्म में है कराया—
स्वामिन् ! ऐसा विलग हमको आपको, क्या कहूं मैं,
कर्मों के तो क्षपण करने हेतु, दैगम्बरी ये—
दीक्षा ले के गिरि पर चढे आप तो तोड नाता,
स्वामिन् ! मैं हूं परभवगत स्नेह के ही अधीना
सो रागी ये मन तुम विषे है अभी भी प्रसक्त
हो जाता है श्रवण करने आपकी क्षेमवार्ता ॥२९॥

अशुभ कर्म ने ही हम दोनों को इस भव में अलग किया
उसके नाशन हेतु आपने तो मुनिबाना धार लिया
पर परभव से चला आ रहा राग न अब तक अस्त हुआ,
मेरा नाथ ! आपसे—सो मन कुशलक्षेम यह पूछ रहा ॥२९॥

मुक्त्वा मां त्वं ननु समभवः स्वार्थसिद्ध्यै तपस्वी,
कृत्येऽस्मिंस्ते भवति महती वाच्यताऽतो ब्रवीमि ।
आशंसार्हं चरितमपि चेल्लोकदृष्ट्या विरुद्धम्,
सेव्यं तन्नो भवति भवता मर्शणीयं वचो मे ॥३०॥

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (मां मुक्त्वा) मुझे छोड़कर जो (त्वं तपस्वी समभवः) आप तपस्वी हुए हो सो (स्वार्थसिद्ध्यै) अपने मतलब की सिद्धि के लिये हुए हो, इसलिये (अस्मिन् कृत्ये) इस आपके कार्य में (ते) आपकी (महती वाच्यता) बड़ी निंदा हो रही है. (अतः ब्रवीमि) सो इस सम्बन्ध में मेरा ऐसा कहना है कि (आशंसार्हम् अपि चरितं लोकविरुद्धं चेत्) प्रशंसनीय भी चरित्र यदि लोक के विरुद्ध हो (तत् भवता सेव्यं नो भवति) वह आपके द्वारा सेवनीय नहीं है । ऐसी (मे वचः मर्शणीयम्) मेरी बात का   को विचार करना चाहिये ।

छोडा स्वामिन् ! स्वहित करने के लिये जो मुझे है ।
सो निंदा है इस विषय में आपकी नाथ ! भारी ।
देखो सोचो—उचित कहती नाथ ! मैं तो यही हूं

अच्छा भी हो पर यदि पड़े लोक के वो विरुद्ध
तो ऐसा भी वह नहिं कहा कार्य संसेवनीय ॥३०॥

स्वार्थ सिद्ध करने के लालच से तुमने मुझको छोड़ा
नहीं भलाई मिली बुराई से तुमने नाता जोड़ा
असमय में अंगीकृत तप से नहिं स्वसाधना सधती है,
लोक विरुद्ध कार्य से स्वामिन् ! सिद्धि नहीं मिल सकती है।
कार्य भले ही अच्छा हो हों लौकिकजन उसके प्रतिकूल
तो असेव्य वह है उससे तो आप अभी हो जावें दूर ॥३०॥

कस्मिन् समये समये राजुलदेव्या सखीं प्रत्युक्तं तद् वृत्तं निवेदयति—

एवं सख्या निगदितमिमं सर्वसंदेशमुक्त्वा,
पश्चाद्ब्रूते क्वथितमनसा यत्तयोक्तं स्वसख्यै।
काले काले तदपि तदहं श्रावयामि विभो! त्वाम्
प्रोक्तं स्वीयं बृहदपि यतो दुःखमल्पत्वमेति ॥३१॥

अन्वय-अर्थ—(एवं सख्या निगदितम्) इस प्रकार अपनी सखी राजुल द्वारा कहे गये (इमं सर्वसंदेशम्) इस पूरे संदेश को (उक्त्वा) कहकर (पश्चाद्ब्रूते) फिर उसने कहा- (विभो) हे नाथ ! (क्वथितमनसा तया) खेदखिन्नचित्त होकर उसने (स्वसख्यै काले काले यत् उक्तम्) अपनी सखियों से समय समय पर जो जो कहा है (तत् तत् अपि अहं त्वां श्रावयामि) वह सब भी मैं तुम्हें सुनाती हूं। (यतः) क्योंकि (बृहदपि प्रोक्तं स्वीयं दुःखम्) दूसरों से कहा गया अपना बड़ा भी दुःख (अल्पत्वम् एति) अल्पता को प्राप्त हो जाता है—सह्य हो जाता है।

भावार्थ—प्रेषित राजुल का सन्देश सुनाकर सखी पुनः श्री नेमिनाथ से कहने लगी कि हे नेमिनाथ ! समय समय पर राजुल ने जो अपनी सखियों से गद्गदकंठ होकर कहा है उसे भी मैं अब आपको सुनाती हूं। क्योंकि कितना बड़ा भी असह्य दुःख क्यों न हो यदि वह दूसरों से कह दिया जाता है तो वह अल्प-सह्य-हो जाता है

जो संदेशा निजप्रिय सखी के सहारे पठाया,
श्री नेमी के निकट उसने जा उन्हें वो सुनाया।

आलोयों से समयसमये जो कहीं थीं व्यथाएँ
दुःखो होके रजमति सती की सभी यों सुनाई ।।३१।।

राजुल द्वारा प्रेषित ऐसा सब संदेशा कहकरके,
फिर वह कहने लगी नेमि से व्यथित हृदय अति हो करके ।
नाथ ! सुनो यों समय समय पर वह सखियां से कहती है,
क्योंकि सुनाने से भी दुख की ज्वाला तीव्र न जलती है ।।३१।।

नाथेनाहं मृतकघटवद् दूरतो विप्रमुक्ता,
धैर्यं दध्यां हृदि सखि ! कथं बोधयेयं कथं स्वाम् ।
पश्यन्त्या मे क्षण इव चिरात्पोषिताशा विनष्टा,
शुष्काः प्राणा धृतिरपि गता प्राणनाथे प्रयाते ।।३२।।

अन्वय-अर्थ—(सखि) हे सखि ! (नाथेन) प्राणनाथ ने (अहम्) मुझे (मृतक-घटवत्) मुर्दे के घड़ा के समान (दूरतः) दूर से ही (विप्रमुक्ता) छोड़ दिया है । सो अब (हृदि) हृदय में (कथम्) कैसे (धैर्यं) धैर्य को (दध्याम्) धरूं और (कथम्) कैसे (स्वाम्) अपने आपको—जी को— (बोधयेयम) समझाऊं ? (चिरात्) चिरकाल से (पोषिता में आशा) पोषी गई मेरी सब आशाएं—कामनाएं—(पश्यन्त्या) मेरे देखते देखते ही (क्षण इव) एक क्षण की तरह (प्राणनाथे प्रयाते) प्राणनाथ के चले जाने पर (विनष्टा) नष्ट हो गई है, (प्राणाः शुष्काः) प्राण शुष्क हो गये हैं और (धृतिरपि गता) धैर्य भी छूट गया है ।

भावार्थ—हे सखिजनो ! जब मुझे मेरे प्राणनाथ ने ही श्मशानपतित घड़ा के जैसा दूर से छोड़ दिया है—तब मैं कैसे तो धैर्य धरूं और कैसे अपने आप को समझाऊं । देखते देखते ही प्राणनाथ के चले जाने पर तो मेरा धैर्य छूट गया, सब आशाएँ नष्ट हो गई और मेरे प्राण तक भी सूक गये ।

प्रेतस्थानस्थितघटसमा मैं विमुक्ता हुई हूं—
स्वामी—द्वारा, सखि ! अब कहो धैर्य कैसे धरूं मैं ?
औ जी को भी उन विन कहो हाय ! कैसे रमाऊं ?
कैसे खाऊं किसविध रहूं क्या धरूं क्या उठाऊं

स्वामी मेरे क्षणसम मुझे छोड़ के हा गये हैं—
प्यारे, कैसे सफल अब हा ! संचिताशा बनेगी ?
जाते ही तो धृति गल गई प्राण भी सूक ग्ये ये,
बोलो बोलो–सजनि ! अब मैं क्या करू, क्या कहूं मैं ?
कैसे जिन्दा उन बिन रहूं और जाऊं कहां मैं ।।३२।।

मृतकघड़ा के तुल्य नाथ ने मुझे दूर से छोड़ दिया,
कच्चे धागे के समान भव भव का नाता तोड़ दिया
कैसे धैर्य धरू हे सजनी कैसे समझाऊँ खुद को
कैसे चित्त रमाऊं कैसे और सजाऊँ इस तन को
चिरपोषित आशाएँ मेरी सब की सब अब नष्ट हुई
नष्ट हुए ये प्राण नाथ के जाते ही धृति भ्रष्ट हुई ।।३२।।

सौभाग्यं मे विरहदहने कर्मणाऽह्नाय दग्धम्,
नाहं त्वेकं क्षणमपि विभोः पार्श्वमभ्येत्य तथौ ।
पश्यैतन्मे विधिविलसितंयन्मयीत्थं प्रवृत्तम्,
ध्वस्तं ध्यातं द्रुतमुपगतं कल्पितं यन्न चित्ते ।।३३।।

अन्वय अर्थ—हे सखियों ! (कर्मणा) अशुभ कर्म ने (मे सौभाग्यम्) मेरा सौभाग्य—सुहाग—(अन्हाय) बहुत शीघ्र (विरह दहने) विरह रूपी अग्नि में (दग्धम्) भस्मसात् कर दिया है । क्योंकि (अहम्) मैं (तु) तो (एकं क्षणम् अपि) एक क्षण भी (विभोः) प्राणनाथ के (पार्श्वम् अभ्येत्य) पास जा करके (न तस्थौ) नहीं बैठ सकी । (मे एतत्) मेरे इस (विधिविलसितम्) दुष्कर्म के विलास को तो (पश्य) देखो (यत्) जो (मयि इत्थं प्रवृत्तम्) मेरे ऊपर—मेरे साथ—इस प्रकार की चाल चल रहा है कि—(ध्यातं ध्वस्तम्) जिसका मैंने विचार किया था अर्थात् जो होने वाला था—वह तो हुआ नहीं और (चित्ते यत् न कल्पितम्) चित्त में जिसकी कल्पना तक भी नहीं थी जिसके होने की सम्भावना तक भी नहीं थी—वह (द्रुतम्) एकदम (उपगतम्) हो गया है—सामने प्रकट हो गया है ।

भावार्थ—सखियो ! मेरे दुष्कर्म की चेष्टा को तो देखो—जो वह मेरे साथ कितनी मनमानी कर रहा है । मेरे सौभाग्य को वह फूटी आंखों से भी नहीं देख

सका—क्षण के क्षण में कुछ से कुछ हो गया। नाथ द्वार पर आये—एक सेकिण्ड भी उनके पास जाकर मैं खड़ी तक नहीं हो पाई, स्वप्न में भी जिसके घटित होने की सम्भावना नहीं थी वह तो हो गया और जो होना था वह नहीं हुआ।

देखो–देखो विधिविलसता ने करी हाय! मेरी
कैसी जल्दी इस तरह की दुर्दशा, क्या कहूँ मैं।
द्वारे आये पर न उनके पास में बैठ पायी,
छाया भी तो नहिं पड़ सकी नाथ की दृष्टि की ही।
माथे पै ही यदि पड़ गया नाथ का हाथ होता,
तो भी लेती कर सबर मैं हाय! दुःखी न होती
सोचा था जो वह नहिं हुआ वो हुआ जो न सोचा ॥३३॥

देखो मेरे इस सुहाग को विधि ने कैसा दग्ध किया—
विरहानल में इतनी जल्दी, नहीं पिया का प्यार दिया।
रूठा है वह यों क्यों मुझ से मेरा सब कुछ लूट लिया,
मुझे विरहिणी करके उसने अपना क्या कल्याण किया।
सोचा था जो, नहीं हुआ वह, हुआ नहीं जो सोचा था।

मादृक्कान्या भवति महिला दुःखिनी या स्वभर्त्रा,
त्यक्ता तावत्परिणयविधेर्निर्निदानं पुरस्तात्।
दृष्टो द्रष्टा न खलु स मया तेन चाहं न साक्षात्,
आयातोऽपि क्षण इव गतः सद्मनो द्वारदेशात् ॥३४॥

अन्वय अर्थ—हे सखियो! (या स्वभर्त्रा परिणयविधेः तावत्पुरस्तात्) जिसे प्राणनाथ ने विवाह के पहिले ही (निर्निदानं त्यक्ता) बिना कारण के छोड़ दिया हो ऐसी (मादृक् अन्या) मेरी जैसी दूसरी (का) कौन (दुःखिनी महिला) दुःखिया महिला (भवति) होगी? (आयातः अपि) वे आये तो, फिर भी (सद्मनः द्वारदेशात्) महल के दरवाजे से (क्षण इव गतः) क्षण की तरह चले गये। अतः (साक्षात् सः मया न दृष्टः) उन्हें मैंने नहीं देखा और (तेन अहं च न दृष्टा) उन्होंने मुझे नहीं देखा।

भावार्थ—सखियो ! इस संसार में मेरी जैसी दु:खिया महिला और कौन होगी कि जिसे भर विवाह में बिना कारण पति ने छोड़ दिया हो । बारात लेकर वे आयें तो सहीं, पर महल के दरवाजे से ही वे लौट गये, सो न वे मुझे देख सके और न मैं ही उन्हें देख सकी, यह मेरे कितने अधिक दुर्भाग्य का जीता जागता रूप है ।

मेरी जैसी दुखित महिला और कोई न होगी,
भर्ता ने ही इकदम जिसे व्याह में छोड़ दी हो ।
द्वारे आये पर नहिं रुके है यही कर्मलीला,
देखा मैंने तब नहिं उन्हें, औ उन्होंने मुझे भी ।।३४।।

भर विवाह में जिसने अपनी पत्नी को ही छोड़ दिया—
होवे—, ऐसी घटना से सखि ! धड़के किसका नहीं हिया,
मैं कितनी अभागिनी दुखिनी इस घटना की लक्ष्य बनी ।
बनी-बनी पर रही अनबनी लक्ष्य धनी की अन्य बनी,
द्वारे आये पर न रुके वे क्षण-भर भी नहिं खड़े रहे ।
सजे सजाये ठाट निराले सब के सब ही पड़े रहे,
तका न उनने मुझे, न मैंने उन्हें तका, क्या मैं कहती ।
कैसे अपने मन की बातें उन्हें खोल कर समझाती ।।३४।।

कंठे क्षेप्तुं स्रजमहमिमां यावदादाय सौधात्,
आयाताधो जनमुखरवोऽश्रावि नेमिर्गतोऽस्मात् ।
त्यक्त्वा सर्वाभरणमुचितं कङ्कणं त्रोटयित्वा,
इत्थं जाते सखि ! वद कथं धैर्यधन्या भवेयम् ।।३५।।

अन्वय अर्थ—हे (सखि) सखि ! (इमाम् स्रजम्) इस माला को (कण्ठे क्षेप्तुम्) उनके कण्ठ में प्रक्षिप्त करने के लिये (आदाय) लेकर (सौधात्) महल से (यावत्) जितने में (अधः चैमायाता) मैं न आयी कि इतने में (उचितम् सर्वाभरणम्) "उचित समस्त आभूसणों को (मुक्त्वा) उतार कर और (कङ्कणम् त्रोटयित्वा) कंकण को तोड़कर (अस्मात्) इस स्थान से—राजद्वार से—(नेमिः गतः) नेमिनाथ चले गये"

ऐसा (जनमुखरवः) मनुष्यों के द्वारा किया गया कोलाहल (अश्रावि) मैंने सुना। (इत्थम् जाते) ऐसी स्थिति हो जाने पर (वद) हे सखि ! तुम्हीं कहो (धैर्यधन्या कथं भवेवम्) मैं धैर्यधन्या—धैर्य से धन्य—धीरज धारण करने वाली कैसे होती—कैसे धैर्य धरती।

भावार्थ—हे सखि ! प्राणनाथ के गले में वर माला डालने के लिये ज्यों ही मैं उसे लेकर राजमहल से नीचे उतरी कि इतने में मैंने जनता के मुख से सुना कि नेमिनाथ तो वैवाहिक मांगलिक आभूषणों को उतार कर और कंकण को फेंक कर यहां से वापिस लौट गये हैं। तब कहो सखि ! ऐसी हालत में मैं धैर्य कैसे धरती ?

ज्यों ही आयी भवन पर स माल्य ले हाथ में मैं—
नीचे, त्यों ही जनरव सुना—नेमि देखो चले गये।
छोड़े सर्वाभरण पहिरे और तोड़ा उन्होंने,
जाते जाते मणिखचित वो कंकणं भी सलोना।
बोलो प्यारी अरि सखिजनो ! धैर्य कैसे धरु मैं,
मेरा प्यारा जब छिन गया हाथ—आया खिलौना ॥३५॥

वरमाला ले भवन में से आइ ज्यों ही सखी मैं,
डालूंगी अब प्रिय—पति गले में इसे प्रेम से मैं।
द्वारे आयी जनरव सुना—"नेमि यहाँ से चले गये",
तोड़ा कंकण, पटक सगरे भूषणों को मही पर।
विधि ने जिसका इस तरह से हाय ! सर्वस्व लूटा,
कैसे धीरज वह धर सके हे सखीओ ! बताओ ॥३५॥

काचित् नेमि प्रार्थयति—

तत्संदेशं यदहमगवं चान्यवृत्तं तदीयम्,
श्रुत्वा प्रेष्या स्वकुशलमयी नाथ ! वार्ता त्वयापि।
नीतिज्ञैस्तैः प्रखरमतिभिरुक्तमेतत्तथाहि,
कान्तोदन्तः सुहृदुपगतः संगमात् किञ्चिदूनः ॥३६॥

अन्वय-अर्थ — (नाथ) हे नाथ ! (तत्संदेशम्, तदीयम् अन्यवृत्तं च) अपनी सखी का संदेश और उसके अन्य समाचार (यत् अहम् अगदम्) जो मैंने कहे हैं-- आपको सुनाये हैं—सो (श्रुत्वा) सुनकर (त्वया अपि) आपको भी (स्वकुशलमयी) अपनी कुशलता की (वार्ता) खबर (प्रेष्या) उसके पास भेजना चाहिये (प्रखरमतिभिः) प्रखर बुद्धिशाली (नीतिज्ञैः) नीतिविशारदों ने (एतत् उक्तम्) ऐसा ही कहा है कि (कान्तोदन्तः) कान्ता का कान्त को और कान्त का कान्ता को समाचार (सुहृदुपगतः) उसकी सखी तथा मित्रजन द्वारा मिल जाता है तो वह (संगमात् किञ्चित् ऊनः) आपस में मिलने के जैसा ही होता है ।

मैंने जो ये कथित उसका नाथ ! संदेश सारा,
वाणी द्वारा प्रकटित किया आप से, और भी जो,
दुःखों से है अतिशय भरा वृत्त उसका सुनाया,
नीतिज्ञाता इस पर यही नीति ऐसी बताते ।
भेजें प्रत्युत्तर कि उसको आप भी, क्योंकि ऐसा--
होने से है स्वजन मिलने के जैसा सौख्य होता ।।३६।।

नाथ ! आपको उसका भेजा जो संदेश सुनाया है,
और साथ में उसके दुःख का जो विवरण बतलाया है ।
अतः आप भी प्रत्युत्तर में अपना समाचार उसको--
भेजें, ऐसा होने से ही दूरदेशवर्ती जन को,
आपस के सुख-दुःख की बातों का सुबोध होता रहता ।
और परस्पर मिलने जैसा सुख-दुःख का अनुभव रहता ।
नीतिविशारद ऐसा ही तो अबतक कहते आये हैं,
इसे ध्यान में रखकर सुनने हाल सुनाने आये हैं ।।३६।।

काचिदित्थं ब्रवीति—

त्वां संस्मृत्याशरणविकला साऽऽगतैः शीतवातैः—
लब्धाश्वासा भवति नितरां तान् समालिङ्ग्य साध्वी ।
एषु क्वासि त्वमिति तरसाऽन्वेषणे वसदृष्टिः,
त्वामप्राप्य द्विगुणितमनस्तापदग्धाऽस्ति मुग्धा ।।३७।।

अन्वय अर्थ—(अशरणविकला मा) रक्षक-जीवन साथी—के नहीं होने के कारण आकुलव्याकुल हुई हे नाथ ! वह मेरी राजुल (त्वाम्) आपको (संस्पृश्य स्पर्श करके (आगतैः शीतवातैः) आगत शीतल पवनों से (नितरां) इकदम (लब्धश्वासा-भवति) धैर्य को प्राप्त कर लेती है। पश्चात् (माध्वी तान् समालिङ्ग्य) वह विचारी उनका आलिङ्गन करके (एषु त्वं क्व असि) इनमें आप कहां पर हैं सो (अन्वेषणे) आपकी तलाश करने में (दत्तदृष्टिः तरला भवति) अपनी दृष्टि को दौड़ाती है—जमाती है। इस प्रकार चंचल चित्त बनी हुई वह (मुग्धा) भोलीभाली वहां (त्वाम्) तुम्हें (अप्राप्य) न पाकर (पुनः द्विगुणितमनस्तापदग्धा) फिर से द्विगुणित मनस्ताप से दग्ध (अस्ति) होने लग जाती है।

भावार्थ—हे नाथ ! आपको छू करके आई वायु जब उसे छूती है तो उसे बड़ी शांति मिलती है, सो वह मुग्धा उतावली होकर उनमें आपको तलाश करने लगती है, पर जब वह वहाँ आपको नहीं पाती है तो हताश होकर वह द्विगुणित मनस्ताप से संतप्त होने लगती है।

छू के आई पवन तुमको नाथ ! छूती उसे है,
लब्धाश्वासा बनकर सखी खोजती व्हां तुम्हें है।
पाती वो हा। जब नहिं वहां आपको तो दुखी हो—
निंदागर्हा कर—कर स्वयं की अशान्ता बने हैं ॥३७॥

नाथ ! आपको छूकर आयी वायु उसे जब छूती है,
तो वह अति प्रसन्न हो करके उसमें तुम्हें ढूंढती है।
पर वह मुग्धा नाथ ! नहीं जब तुम्हें वहां पर पाती है,
तो वह द्विगुणितमनस्ताप से हाय ! दग्ध हो जाती है ॥३७॥

मुग्धे ! किं त्वं मलिनवदना सांप्रतं संवृताऽसि,
आसीस्त्वं तु प्रियपतिहिता विस्मृतं किं त्वयेवम्।
कृच्छ्रात्सा नो वदति च यदा ता वयस्या वदन्ति,
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि रसिके ! त्वं हि तस्य प्रियेति ॥३८॥

अन्वय अर्थ—हे नाथ ! जब सखिजन उसे मलिन मुख देखता है तो उससे पूछने लगता है—कि (मुग्धे) हे मुग्धे ! (साम्प्रतम्) इस समय (त्वम्) तुम (मलिन-

वदना) मलिन मुख (किं संवृता असि) क्यों हो रही हो ? (त्वम् तु प्रियपतिहितरता आसीः) तुम तो अपने प्यारे पति के कल्याण में अनुरक्त थीं, सो(इदं ते किम् विस्मृतम्) इस बात को क्या तुम भूल गई हो ? (यदा कृच्छ्रात्) जब कष्ट के मारे (सा नो वदति) वह उत्तर नहीं देती है तब (ताः वयस्याः) वे सखियां उससे (वदन्ति) कहने लगती हैं (तस्य प्रिया इति (मत्वा)) मैं उनकी प्रिया हूं, सो ऐसा मानकर (रसिके) हे रसिके ! (कच्चित् त्वम्) क्या तुम (भर्तुः स्मरसि) अपने भर्तार को याद कर रही हो ?

भावार्थ— राजुल को मलिन-उदासीन मुखवाली देखकर सखियां उससे मजाक के रूप में यहां पूछ रही हैं कि— राजुल ! तेरा मुख मलिन क्यों हो रहा है ? क्या पतिदेव मुनि हो गये हैं इसलिये तो तुम्हीं तो पहिले कहा करतीं थी कि मुझे तो अपने पति देव का हित बहुत प्रिय है, फिर अब क्या हो गया ? इस प्रकार पूछे जाने पर जब वह दुःख की अधिकता के मारे उन्हें जवाब नहीं देती है तो वे सखियां उससे हंसी मजाक के रूप में कहने लगती हैं कि तुम तो अपने को नेमि की प्रेयसी मानती हो न ? तो इसलिये हे रसिके ? तुम अपने भर्तार की याद कर रही हो क्या ?

मुग्धे! क्यों तुम मलिनवदना इस समय हो रही हो,
तुम तो पहिले पतिहितप्रिया थीं इसे भूल गई क्या?
ऐसी बातें सुनकर दुखित चित्त हो वो न देती—
प्रत्युत्तर, तो बस फिर उसे वे वयस्या चिढाती।
यों कह करके "सखि। तुम" प्रिया नेमि की हूं "अतः क्या'
बैठी बैठी स्वयं उनकी याद में रत बनी हो ।।३८।।

इत्थं काचित्तस्या मनोवेदनां वक्ति—

अन्तस्तापं प्रशमितुमसौ नाथ ! सार्धं सखीभी,
रम्यारामं व्रजति च यदा हन्त ! तत्रापि तस्याः।
स्वस्सान्निध्यात् सुखितशिखिनो वीक्ष्य दुःखातिरेकात्,
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ।।३९।।

अन्वय-अर्थ—(नाथ) हे नाथ ! (असौ) यह राजुल (यदा) जब (अन्तस्तापम्) अपने मनस्ताप को (प्रशमितुम्) शान्त करने के लिये (सखिभिः सार्द्धम्) अपनी सखियों के साथ (रम्यारामं) सुन्दर-रमणीय-बाग में (व्रजति) जाती है—तब (हन्त) बड़े दुःख की बात तो यह है कि (तत्रापि) वहां पर भी (त्वत्सान्निध्यात्) आपके पास से (सुखितशिखिनः) सुखी हुए मयूरों को (वीक्ष्य) देखकरके (दुःखातिरेकात्) दुःख की अधिकता के कारण (मुक्तास्थूलाः) मोतियों के जैसे स्थूल (तस्याः अश्रुलेशाः) उसकी आंखों से आंसू (तरुकिसलेषु) वृक्षों के पत्तों पर गिरने लगते हैं ।

भावार्थ—हे नाथ ! जब राजुल अपने मानसिक संताप को दूर करने के निमित्त किसी सुन्दर उद्यान में जाती है तो वहां पर वह आपके पास से सुखी होकर आये हुए जब मयूरों को देखती है तो वह इसलिये दुःखी हो जाती है कि मैं भी उनके पास गयी थी—मैं तो सुखी होकर नहीं आई हूं । अतः ऐसे ख्याल से मोती के जैसे स्थूल आंसू उसकी आंखों से निकल कर पत्तों पर गिर पड़ते हैं, इस प्रकार बाग में जाने पर भी उसमें दुःख की अधिकता ही बढ़ती है, वहां पर भी उसे चैन नहीं मिलती ।

चित-अशान्ति के शमन हेतु जब वह उपवन में जाती है
सखियों के संग, फिर भी उसके मन में शांति न आती है
प्रत्युत दूना बढ़ जाता है उसका मन संताप तभी
निकट आप के होकर आये सुखित देखती शिखी जभी
मैं भी पास गई थी उनके दुःखित होकर ही आई
तो क्या मैं पशुओं से भी हूं, ओछी कृपा न बरसायी ?
इस विचार के आते ही बस उसकी आंखें भर आतीं
और वृक्ष के पत्तों पर वे अश्रुकणों को बरसातीं ।।३९।।

तत्सान्त्वनां दातुं स्वसखीवचनं राजपुत्री निषेधति—

कंजेऽव्यंगं, हरिणनयने नेत्रसाम्यं विभोस्त्वं
आस्यच्छायां शशिभृति शरत्पौर्णमास्या, द्विरेफे—
केशान् कृष्णान्, क्षितिभृति धृति, स्पष्टमोक्षस्व, साह
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न मत्स्वामिसादृश्यमस्ति ।।४०।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! राजुल की दुरवस्था देखकर उसकी सखियां जब उसे यों समझाती हैं कि हे सखि ! (त्वम्) तू (कंजेषु) कमलों में (विभोः अंगम्) अपने स्वामी के शरीर के सौन्दर्य को (हरिणनयने नेत्रसाम्यम्) मृगों के नयनों में उनके नेत्रों की समानता को (शरत्पौर्णमास्या शशिभृति) शरत की पूर्णिमा के चन्द्रमंडल में (आस्यच्छायाम्) उनके मुख की शोभा को (द्विरेफे कृष्णान् कचान्) भ्रमर में उनके काले केशों को और (क्षितिभृति धृतिम्) पर्वत में उनके धैर्य को (स्पष्टम् ईक्षस्व) स्पष्टरूप से देख, तब (सा आह) वह कहती है (हन्त ! क्वचिदपि एकस्मिन्) बड़े दुःख की बात तो यह है कि कहीं पर भी एक जगह (मत्स्वामिसादृश्यम् न अस्ति) मेरे स्वामी के अंगादिकों का सादृश्य नहीं है, अतः धैर्य कैसे धारण करूं।

नाथ ! विरह से व्यथित हुई जब सखियां उसको लखती हैं
"विरह अग्नि में जलती क्यों तू" तब उससे यों कहती हैं

समझाती वे बार २ हैं इस प्रकार के कथनों से

उपमित करके नाथ ! आपके अंगों को उपमानों से

राजुल ! तेरे भर्त्ता का है कमलतुल्य सुकुमार शरीर
उसे निरखकर मन समझाले अपना, मत हो सखी ! अधीर

हरिणों के नयनों जैसे हैं उनके दीरघ अनियारे

नेत्र, निरखकर मन समझाले, क्यों उनही पर दम मारे

शरतकाल की राका के विधु जैसा है उनका आनन

उसे निरखकर मन समझाले दुःखित मत बन तू हर क्षण

भ्रमर तुल्य हैं उनके काले केश, देखकर भ्रमरों को

मन को तू अपने समझाले क्यों करती है फिकरों को

चले गये तो जाने दे वे, चिन्ता उनकी अब कैसी

जो विरक्त हो गया सखी तो उसके प्रति रति क्यों ऐसी,

वे तो अचल अचल से हैं, तू चंचलचित क्यों होती है

उनकी चिन्ता में पड़कर क्यों जीवन अपना खोती है

सुन करके सखियां की ऐसी सीख सयानी कहती है

यह शोभा है व्यष्टिरूप में नहि समष्टि में दिखती है

उनके जैसे वे ही है नहि उनसा कोई दिखता है

दुर्लभ है सौभाग्य जगत में वह न हाट में बिकता है ।।८०।।

दयनीयस्थितिं काचित्तस्याः प्रकटयति—

उक्त्वैवं सा विगलितधृती रोदनक्लान्तचित्ता
दर्शं दर्शं तव प्रतिकृतिं दीर्घनिश्वासदग्धा
स्मारं स्मारं भवभवगतं गंत्वत्प्रकृष्टानुरा
आहारं वा जलमपि विभो ! नैव गृह्णाति सम्यक् ॥४१॥

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (एवम्) इस प्रकार कहकर (सा) वह (रोदनक्लान्त-चित्ता) रो रोकर अपने चित्त को मलिन बना लेती है। और (विगलितधृति) धैर्य-विहीन बन जाती है। (तव प्रतिकृतिं दर्शं-दर्शं) आपकी छवि को देख देख कर वह (दीर्घनिश्वासदग्धा) लम्बी लम्बी सांसे खीचने लगती है और (भवभवगतं त्वत्प्रकृष्टानुरा-गम्) प्रत्येक भव के आपके प्रकृष्ट अनुराग को (स्मारं स्मारम्) बारंबार याद करके वह (विभो) हे स्वामिन् ! (आहारं जलं अपि) आहार को एवं पानी को भी (सम्यक्) अच्छी तरह (नैव गृह्णाति) नहीं ग्रहण करती है।

स्वामिन् ! ऐसा कहकर सती धैर्य खो बैठती है
औ रोती है दुखितचित हो, देखके आपकी वो।
छोटी प्यारी, तुरत उसकी तीव्र हो श्वास जाती
बारंबार स्मरण करती आपकी पूर्वप्रीति
सो वो अच्छी तरह भगवन् ! चैन से बैठती न—
खाती पीती, अनमन बनी ही सदा वो रहे है
"जाते जाते कुछ नहिं कहा क्यों हुए यों कठोर"—
निर्मोही भी जब जब कहीं देश को हे वयस्ये !—
जाता है तो खबर करता है सभी बन्धुओं को
देखो ऐसी यह स्वजन की है उपेक्षा भली क्या ? ॥४२॥

ऐसा कहकर नाथ ! सती वह धैर्यगलित हो जाती है,
रोने लगती क्लान्तचित्त हो श्वास चाल बढ़ जाती है
बार २ वह नाथ ! आपकी प्रतिकृति को जब तकती है
तो माथे पर हाथ लगाकर भाग्य कोसने लगती है
पूर्वभवों की स्नेहस्मृति में आकुल-व्याकुल वह होती
सब कुछ भूल बिसर कर केवल मन ही मन रहती रोती.

कहती है वह एक बात यह "छोड़ मुझे वे चले गये
पर मेरे मन से वे अबतक नहीं—गये तो क्यों न गये ?
जाना था तो हिलमिल करके जाते कुछ तो कह जाते,
नहिं आते तो नहिं आने पर कुछ तो धैर्य बंधा जाते
जाने वाले को सखि ! जग में हट से कोई न रोक सका
गर्म लोह को गरम न लोहा जग में अबतक काट सका
हां, ठंडी पैनी छैनी ही जैसे उसे काट देती
तैसे मैं भी शीतल निजवचनों से उन्हें डाट लेती
ऐसी ऐसी बातें कहती वह, भोजन पानी तक भी
ग्रहण न मनमाना करती है, क्षण २ अकुलाती रहती
कहती है-उन बिन मैं जैसी दुःखी हूं मुझ बिन वे होंगे,
कहां बैठते होंगे वे अरू क्या खाते पीते होंगे ।।४१।।

दृष्ट्वा तस्या विलपनपरां तामवस्थां वयस्याः,
मुग्धे ! मैवं कुरु किमिति ते विस्मृता सा त्रपापि ।
नारी रम्या भवति च यया बोधयन्तीत्थमेतत्
सोढव्यं ते पतिविरहजं धैर्यमाधाय दुःखम् ।।४२।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! जब उसकी (वयस्याः) सखियां (विलपनपरां नाम्) रोने धोने में ही तत्पर बनी हुई (तस्याः अवस्थाम्) उसकी दशा को देखती हैं— तो (दृष्ट्वा) देखकर उसे (इत्थम्) इस प्रकार से समझाती हैं—(मुग्धे !) हे मुग्धे ! (एवं मा कुरु) तू ऐसा मत कर (किमिति ते सा त्रपा अपि विस्मृता) क्या तूने वह लज्जा भी भुला दी है कि (यया) जिससे (नारी रम्या भवति) नारी की शोभा होती है । अतः (पति-विरहजं एतत् दुःखम्) पतिविरह से उत्पन्न हुआ यह दुख (धैर्यम् आधाय) धैर्य धारण कर (ते सोढव्यम्) तुझे सहन करना चाहिये ।

रोने में ही निरत उसकी देखके दुर्दशा को,
दुःखी होती सवय सखियां, यों उसे बोध देती ।
मुग्धे ! चिन्ताव्यथितचित हो क्यों दुखी हो रही हो,
नारीभूषा तज मत त्रपा, नेमि की क्यों कृपा तू

ऐसी भोली बनकर सखी चाहती है ? न वे हैं--
तेरे कोई अब समझले और तू भी न उनकी
कोई है, यों पतिविरह का दुःख क्यों मानती है
माने है तो सह अब उसे धैर्य से हे सखी तू ।।४२।।

नाथ ! आपके विरह जनित वह दुख से पीड़ित हो करके ।
रात दिवस है रोती रहती सब कुछ भूल विसर करके
सो हमने देखी नहिं जाती उसकी ऐसी हालत को
हृदय हमारा भर आता है सो समझाती यों उसको
चिन्ता किसकी तू करती है क्या उनसे तेरा नाता
नाता तो अब छूट चुका है, झूठा क्यों रचती खाता
नारी का भूषण लज्जा है, सो ऐसे व्यवहारों से
आचरणों से और अनोखी ऐसी ऐसी बातों से
होती है वह धराशायिनी अतः छोड़ इस ममता को
पतिपत्नी का भाव ध्वस्त कर धरले सजनी ! समता को ।।४२।।

सर्वं मुक्तं परमिह तया त्वं न मुक्तोऽसि नाथ !
वाक्यं नो नो धरति हृदये "नाथ ! कुत्रासि वक्ति" ।
वच्मः किञ्चिद्विरम तपसो भो दयालो ! प्रबोध्य,
तामित्वाऽत्र त्वमनुचरतात्सर्वभद्रां तपस्याम् ।।४३।।

अन्वय-अर्थ—(नाथ) हे नाथ ! (इह) इस समय (तया सर्वम् मुक्तम्) उसने सब कुछ छोड़ दिया है (परम् त्वम् न मुक्तः असि) पर तुम्हें नहीं छोड़ा है (नः वाक्यम्) हम लोगों की बात को वह (हृदये नो धरति) चित्त में ही नहीं लेती है । (नाथ ! कुत्र असि वक्ति) केवल हे नाथ ! तुम कहां हो यही कहती है । (वच्मः) अतः हम आपसे यही कहते हैं कि (किञ्चित् तपसः विरम) कुछ समय तक तपस्या से आप विराम ले लें और (भो दयालो) हे दयालो ! (ताम् प्रबोध्य) उसे समझाकर फिर (अत्र इत्वा) यहां आकर के (त्वम्) आप (सर्वभद्राम्) सर्वमंगलकारिणी (तपस्याम्) तपस्या की (अनुचरतात्) आराधना करें ।

भावार्थ-- हे नाथ ! यद्यपि सखी राजुल ने इस समय सब से मोह ममता छोड़ दी है, पर आपसे नहीं छोड़ी है। हम सब तरह से उसे समझाते बुझाते हैं पर उसके चित्त में एक भी बात नहीं जमती, वह तो एक ही रट लगाये रहती है कि हे नाथ ! तुम कहां हो ? इसलिये हमारी तो आपसे प्रार्थना एक यही है कि कुछ समय के लिये आप तपःसाधना में विराम लेकर उसे समझावें। पश्चात् यहां आकर सर्वहितकारिणी तपस्या में तल्लीन हो जावें।

छोड़ा स्वामिन् ! सब कुछ सखी ने तुम्हें पै न छोड़ा
मोहाधीना बनकर तुम्हें चित्त में है बिठाया
आ आ आके निशदिन उसे सर्व ही बान्धवादि
प्यारे बोधप्रदवचन से खूब संबोधते हैं
तो भी हो हो वह अनमनी बोलती बोल ऐसे—
हो जाता है सुनकर जिन्हें चित्त में क्षोभ भारी
"छोड़ा है क्यों ? तजकर लिया शैल का क्यों सहारा
क्या था मेरा प्रकट करते दोष यों छोड़ देना
शोभा देता ? नहि वह उन्हें" प्रार्थना है अतः ये
स्वामिन् ! जल्दी चलकर उसे आप संबोध दोगे
तो ही होगा सुचित उसका, है न अन्य प्रयत्न
हो जावेगी वह सुचित सो बाद में आप यहां ही
आ जावें औ तप वह तपें सर्वकल्याणकारी ॥८३॥

नाथ ! आपको छोड़ सखी ने सब कुछ अपना छोड़ दिया,
समझाने पर नहीं समझती ऐसा निज को बना लिया,
कहती है बस ! यही कि मुझको बिन कारण क्यों छोड़ा है
घर को छोड़ शैल से आकर क्यों यह नाता जोड़ा है,
ऐसी व्यथाभरी जब उसकी बातें हम सब सुनतीं हैं,
तो मन टूक टूक हो जाता तब उपाय यह चुनतीं हैं
आप पधारें उसके मन्दिर और उसे समझा आवें
फिर आकर के नाथ ! यहीं पर लीन सुतप में हो जावें ॥८३॥

चिन्तां त्यक्त्वा निजहृदि हले ! धैर्यमाधाय दुःखं,
सोढव्यं ते निपतितमिदं स्वामिवैराग्यजन्यम्
इत्थं तावद् युवतिततिभिर्बोधिताऽप्यस्तबुद्धिः
कृत्वाऽऽक्रन्दं पतति भुवि सा निः सहाया लतेव ।।४४।।

अन्वय-अर्थ— हे नाथ ! जब उससे वहां की नव वधुएँ ऐसा कहती हैं कि —(हले) हे सखि ! (चिन्ताम्) चिन्ता को (त्यक्त्वा) छोड़कर (निजहृदि) अपने हृदय में (धैर्यम् आधाय) धीरज धारण करके (स्वामिवैराग्यजन्यम्) स्वामी के वैराग्य हो जाने से उत्पन्न हुए (निपतितम्) आकस्मिक (इदम् दुःखम्) इस दुःख को (ते सोढव्यम्) तुझे सहना चाहिये. (इत्थम्) इस प्रकार (युवतिततिभिः बोधिता अपि) नवीन वधुओं के द्वारा समझाई गयी भी वह (अस्तबुद्धिः) नासमझ की जैसी (आक्रन्दं कृत्वा) आक्रन्दन करके (निःसहाया लता इव) सहारे बिना की लता के समान (सा भुवि निपतति) वह जमीन पर गिर पड़ती है ।

भावार्थ— हे सखि ! अब तुम चिन्ता मत करो—जो होना था वह तो हो ही गया है । धैर्यपूर्वक अकस्मात् आये हुए इस दुख को अब सहन किये बिना कोई चारा नहीं है । इस प्रकार से नवोढाओं द्वारा समझाये जाने पर भी वह नहीं समझती—प्रत्युत दुःख की अधिकता के बढ जाने के कारण छिन्नलता सम—सहारे बिना की—लता जैसी जमीन पर गिर पड़ती है ।

छोड़ो चिन्ता अब, हृदय में हे सखी ! धैर्य बांधो,
जैसे भी हो सु-सहन करो दुःख जो आ पड़ा है
"स्वामी ने है तजकर मुझे बीच में ब्याह के ही
दीक्षा लेली नहि अब रही मैं कहीं की, कहूं क्या"
सो यों चिन्ता तुम मत करो जो हुआ, भूल जाओ
आगे क्या है अब सु करना चित्त में ये विचारो
अच्छा होगा सब तरह से क्यों दुखी हो रही हो
जो हूआ है वह सब भले के लिये ही हुआ है
ऐसी शिक्षा नवयुवतियां ज्यों उसे हैं सुनाती
त्यों ही वो तो क्षितिपतित हो—छिन्नमूलालता सी —

हो जाती है, चलकर अतः आप सद्बोध देवें
मेरी प्यारी उस सजनि को आपकी जो प्रिया थी ।।४४।।

नाथ ! नगर की नववधुएँ जब उसको यों समझाती हैं ।
गई वस्तु की चिन्ता छोड़ो चिन्ता चैन चुराती है
चिन्ता को कहते हैं ज्ञानी बड़ी चिता से भी बढ़कर
चिता भस्म करती अजीव को यह सजीव को यह चितधर
छोड़ो चिन्ता, धरो धैर्य को अब मन में, तुम सहन करो—
स्वामी के वैराग्यजन्य इस दुख को, समताभाव धरो,
जो कुछ हुआ भूल जावो तुम आगे क्या करना सोचो
इस अमूल्य मानवजीवन को पर चिन्ता में मत दोंचो
ऐसी मंजुल मीठी वाणी में जब वे समझाती हैं
नहीं समझती प्रत्युत वह तो रो रोकर गिर जाती है—
छिन्नमूल व्रतती के जैसी—, तब हम सब घबड़ाती हैं
ऐसी विकट दशा में भी क्यों तुम्हें दया नहीं आती है ।।४४।।

सखी नेमिं प्रति तत्प्रतिबोधनोपायं प्रकटयति—

गत्वा दोष्णा विरहमलिनं तन्मुखं क्षालयित्वा,
तोयेन त्वं तदनुचुलुकैः सद्रसं पाययित्वा
कृत्वाऽऽश्वस्तां कुशलगदनापृच्छनाद्यै विशिष्टै—
र्वक्तुं धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ।।४५।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (त्वं) आप (गत्वा) यहां से जावें और जाकर के (तोयेन) शीतल जल से (विरहमलिनम्) विरह से मलिन हुए (तन्मुखम्) उसके मुख को धोवें, (क्षालयित्वा) धोकर, फिर आप (तदनु) बाद में (चुलुकैः) अपनी चुल्लुओं से (सद्रसं पाययित्वा) उसे सुन्दर रस पिलावें, पिला करके (आश्वस्ताम् कृत्वा) उसे आश्वस्त करें—और आश्वस्त हो जाने पर (कुशलगदनापृच्छनाद्यैः विशिष्टैः स्तनितवचनैः) फिर आप कुशल कहने और पूछने आदि, आप विशिष्ट हृदयहारी वचनों से (धीरः) धीरज के साथ (मानिनीं वक्तुम् प्रक्रमेथाः) उस मानिनी को समझावें ।

भावार्थ—हे नाथ ! मैं आपको उस अपनी टेक पर अड़ी हुई सखी को समझाने की प्रक्रिया बतलाती हूं— आप यहां से जाकर सर्वप्रथम निर्मल शीतल जल से

अपने हाथ से ही उसके विरह-मलिन मुख को धोकर और चुल्लुओं द्वारा सेव नारंगी एवं अनार आदि फलों का रस पिलाकर उसे आश्वस्त करें—फिर हृदयंगम वचनों द्वारा उसके कुशलतादि के समाचार पूछें।

जाकर जल्दी घर पर विभो ! आप उसके, यहां से,
देखें उसको, मलिन मुख ही आपको वो दिखेगी
पानी लेकर प्रथम उसका आस्य धोना स्वयं ही,
पीछे चुल्लू भर कर रसों को पिलाना प्रभो ? तुम,
आश्वस्ता हो जब इस तरह से विभो ! आप पीछे
मीठी २ वचनरचना से कुशलक्षेमवार्ता—
करना, करते समय उसकी भावना जान लोगे ।।४५।।

नाथ ! यहां से आप शीघ्र ही श्वसुरसदन पर जाकर के
विरहव्यथित निजदयिनाजनको अपना दर्शन देकरके—
शान्त कीजिये, वह अशान्त है, धैर्यहीन वह बिलकुल है,
जल विन मीन तुल्य वह तुम विन हाय ! हाय ! अतिव्याकुल है,

जाकर धैर्य बंधाओ उसको, मैं उपाय बतलाती हूं,
सुनो सुनो तुम उस उपाय को मैं तुमको समझाती हूं,
जाकर पहिले जल लेकरके उसके विरहमलिन मुख को
अपने हाथों से धो देना, फिर चुल्लू भर भर रस को

धीरे धीरे उसे पिलाना और पूछना फिर उससे
क्षेमकुशल, यों करने से ही होगा आश्वासन उसको
तुम तो करुणा के अर्णव हो दया योग्य है वह प्राणी
सुख-दायक वाणी कहने में कहो कौनसी है हानि ।।४५।।

उष्णोच्छ्वासैरधरदशनच्छादनं कृष्णयन्तीं,
भूपीठस्थामचलनयनां द्रक्ष्यसि, त्वां समीक्ष्य ।
सा त्वत्प्राप्त्यै विविधनियमान् संस्कृतान् विस्मरन्ती,
त्वत्पादाग्रे करणविरतं कुर्वती क्षेप्स्यति स्वाम् ।।४६।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (उष्णोच्छ्वासैः) गरम गरम श्वासों से (अधरदशन-च्छादनम्) अपने अधरोष्ठ को (कृष्णयन्तीं) कृष्ण करती हुई, एवं (भूपीठस्थाम्) भूमिरूप आसन पर बैठी हुई उस मेरी सखी को (अचलनयनाम्) आप अनिमिषनेत्र हुई (द्रक्ष्यति) देखेंगे। (सा) वह (त्वाम्) तुम्हें देखकर (त्वत्प्राप्त्यै संस्कृतान्) पूर्व में आपकी प्राप्ति के निमित्त किये गये (विविधनियमान्) अनेक प्रकार के नियमों को (विस्मरन्ती) भूलती हुई (करुणविरुतम्) और करुणाजनक विलाप (कुर्वती) करती हुई (त्वत्पादाग्रे) आपके चरणों के आगे (स्वाम् क्षेप्स्यति) अपने आपको पतित-विसर्जित-कर देगी। अर्थात् आपके पावन चरणों में गिर जायगी।

मूंगा जैसा अधर उसका उष्ण उच्छ्वास द्वारा,
काला होकर प्रकट करता दुःख की तीव्रता को,
ऐसी दुःखी वह प्रिय सखी आपको भूमि पै ही
बैठी रोती सुथिरनयना देखने को मिलेगी,
देखेगी वो जब सदन में आप आये हुए हैं
तो जावेगी विसर नियमों को किये गये सभी को,
रोती रोती चरणयुग में आपके आ पड़ेगी
होगी धन्या, दिवस उसका साधना धन्य होगी।

नाथ ! धधकती विरह अग्नि ने प्रतिक्षण उसकी श्वासों को—
इतना उष्ण कर दिया जिनने कृष्ण कर दिया ओठों को
ऐसे सूखे काले होंठों से सनाथ वह नाथ ! सखी
जिसकी तुमने खबर न अबतक ली, नहिं जिनकी बात रखी
कोमल, कान्त कामनाओं को जिसकी तुमने मसल दिया
औ विराग धर करके आकर इस पहाड़ पर वास किया
अनिमिष दृग वह तड़प रही है नाथ ! आपके दर्शन को
स्वागत, भावभक्ति करने को, करने चरणस्पर्शन को
क्षोणीरूपी आसन ऊपर बैठी वह जब देखेगी
आया हुआ सदन में तुमको, तो इकदम उठ बैठेगी
"भूल" भूलकर वह नियमों को रोती रोती आवेगी
आत्मसमर्पण हेतु आपके चरणों में गिर जावेगी।

श्यामा श्यामा विरहविकला दुःखदावाग्निदग्धा,
तन्वी तन्वी शिथिलगमना मन्दमन्दप्रजल्पा ।
खिन्ना खिन्ना वदति वदनात् किं त्वयाऽहं प्रमुक्ता,
गत्वा शीघ्रं कथयतु भवान् कारणं वर्जनस्य ।।४७।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! यद्यपि वह (श्यामा) यौवनवती है (विरह-विकला) फिर भी विरह से विकल, और (दुःखदावाग्निदग्धा) दुःखरूपी दावानल से दग्ध होने के कारण (श्यामा) काली हो गई है। (तन्वी तन्वी) उसकी शारीरिक स्थिति इतनी अधिक कमजोर हो गई है (शिथिलगमना) कि वह ठीक तरह से चल फिर भी नहीं सकती है। (मन्दमन्दप्रजल्पा) बोलती है तो बहुत ही धीमे स्वर में बोलती है। (खिन्नाखिन्ना) अत्यन्त दुःखित हुई वह (किं त्वया अहम् प्रमुक्ता) "तुमने मुझे क्यों त्याग दिया है" (वदनात् वदति) मुख से यही कहती है। अतः (भवान्) आप (शीघ्रम् गत्वा) जल्दी से जल्दी जाकर (वर्जनस्य कारणम् कथयतु) उसे छोड़ने का कारण बतलाओ।

भावार्थ—हे नाथ ! आपके विरह जन्य दुःख की अधिकता के कारण वह काली दिखने लगी हैं। कमजोर वह इतनी ज्यादा हो गई हैं कि उसे चलने फिरने में भी कष्ट होता है, बोलते समय उसकी आवाज स्पष्ट नहीं निकलती है। अत्यन्त विकल बनी हुई सिर्फ वह यही कहती हैं कि "विना कारण तुमने मुझे क्यों तजा" सो आप यहां से जाकर उसे छोडने का कारण बतावें।

श्यामा श्यामा शिथिलगमना दुःखदावाग्निदग्धा
तन्वी तन्वी विरह-विकला मन्दमन्दप्रजल्पा
खिन्नाखिन्ना वह बस यही बोलती है कि क्यों हे-
स्वामिन् ! त्यागा त्रुटि विन मुझे दोष मेरा हुआ क्या ?
जल्दी जाके अब तुम उसे त्यागने का निमित्त
जैसे भी हो समय तप का नाथ ! थोड़ा बचा के
सम्बोधो—तो इस तरह से नाथ ! वो स्वस्थचित्ता
हो जावेगी, दुखित-दुख की है दवा एक ये ही ।।४७।।

विरह-दुःख ने मेरी आली कर दी काली काली है
चिन्ताओं ने मथ मथ करके कृशशरीर कर डाली है
विरहवह्नि उसके तन मन में प्रतिक्षण जलती रहती है,
उसकी भीषण ज्वाला से वह झुलसीझुलसी रहती है।
खेद खिन्न हो कहती है वह "कारण विना पिया ने क्यों
त्यागा मुझे" बताओ जाकर प्रिये ! त्याग का कारण यों ।।४७।।

सा त्वन्नामस्मरणसुधया सिक्तगात्रा सजीवा,
किन्तु स्वान्ते विरहतपनैरात्मनिष्ठत्व-शून्या ।
नर्त्ते त्वद् या मदनसदृशं काङ्क्षतेऽन्यं पुमांसम्,
संरक्ष्याऽतो भवति भवता नो खलूपेक्षणीया ।।४८।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (त्वन्नामस्मरणसुधया सिक्तगात्रा) आपके नाम के स्मरणरूप अमृत से उसका शरीर सिञ्चित होने से वह यद्यपि प्राण सहित है—मरी नहीं है (किन्तु) परन्तु (स्वान्ते विरहतपनैः आत्मनिष्ठत्वशून्या) फिर भी वह मन में अपने आपको मरी हुई—निर्जीव हुई—सी मान रही है—मैं सजीव हूं ऐसा नहीं समझ रही है । और (या) जो (त्वत् ऋते) आपके सिवाय (मदनसदृशं अन्यं पुमांसं नो काङ्क्षते) मदन के जैसे किसी अन्य पुरुष की आकांक्षा नहीं कर रही है । (अतः) इसलिये (भवता) आपके द्वारा वह (संरक्ष्या) रक्षा करने के योग्य है (उपेक्षणीया नो) उपेक्षा करने के योग्य नहीं है ।

भावार्थ—हे नाथ ! वह आपका नाम स्मरण करती रहती है, इसी कारण वह अभी तक जीवित है, नहीं तो कभी की वह आपके वियोग में मृत्यु को प्राप्त हो जाती, आपके प्रति उसकी इतनी अधिक श्रद्धा है कि वह आपके सिवाय कामदेव जैसे सुन्दर अन्य किसी भी पुरुष को नहीं चाहती है, अतः जैसे भी हो आप उसकी रक्षा करें, उपेक्षा न करें ।—

त्वन्नामस्मृत्यनुपमसुधा से प्रभो ! गात्र उसका,
पूरा पूरा बिलकुल हुआ है सना, सो इसी से—
है वो जिन्दा, पर विरह से नाथ ! हो गइ मरी सी
सद्यः होगी असुविरहिता देखने में लगे यों
देखो तो है विधिगति विभो ! हाय ! कैसी अनोखी
ये जो राजीमति पर महादुःख की हैं घटाएँ
आई जल्दी घिरकर, पड़े प्राण हैं संकटों में
"नेमी ही हैं इस भव विषै नाथ मेरे सलोने
होवे कोई मनसिज जिसा, मैं उसे भाई जैसा—
मानूं हूं, सो—इस तरह की है प्रतिज्ञा सखी की
सो हे स्वामिन् ! अब उस सखी के सहारे तुम्हीं हो
रक्षा के ही उचित वह है है उपेक्षा अयोग्य ।।४८।।

नाथ ! आपके अनुपमनामामृत के सेवन करने से
तन उसका अब तक रक्षित है कालकलेवा बनने से
फिर भी तो वह मान रही है विरह-तपन के झोकों से–
संतापित होने के कारण भालों की ज्यों नौकों से
भिदे हुए की तरह अभी तक हाय ! स्वयं को मरी हुई
नाथ हीन कुररी के जैसी भूख प्यास से क्षीण हुई
देखो विधि का दुर्विलास जो प्राप्त हुई को पा न सकी–
तुमसी निधि को, और न तुमसे प्राणनाथ को रिझा सकी
सुन्दर था भवितव्य सखी का तुमसा उसको सुमन मिला
अब कैसा यह बदल गया जो गिरि पर जाकर हाय ! खिला
पीर पराई देख आपने उसको इकदम छोड़ दिया
तोड़ दिया कँगना को परिणय से भी मुख को मोड लिया
क्या यों करना तुम्हें उचित था, कुछ भी तो सोचा होता
ज्ञानी तो परपीडा कारक बीज कभी भी नहीं बोता
राजुल के मनमन्दिर के हो तुम्हीं देवता एक विभो !
उसकी श्वासोच्छ्वासों के हो तुम्हीं एक आधार प्रभो !
मदनतुल्य भी चाहें कोई और दूसरा जन, मन को–
उसके, हरण न कर सकता है, क्योंकि किया अपने तन को–
उसने तुम्हें समर्पित, सो अब उसके संरक्षण का भार
नाथ ! आप पर ही निर्भर है, फिर अपना करना उद्धार ॥४८॥

स्वीकारार्हा भवतु भवता साऽधुना नाथ ! मन्ये,
नो चेदस्या असुनिपतनं पातकी स्यास्त्वमेव ।
स्वापेऽपि त्वां मनसि निहितं वक्ति किं माममुञ्चः,
ब्रूहि स्वामिन् ! कथमिव मनाग्भाषसे सांप्रतं नो ॥४९॥

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (मन्ये) मैं तो यही मानती हूं–कि (सा) उसे (अधुना) इस समय में (भवता) तो आपको (स्वीकारार्हा भवतु) स्वीकार कर लेना चाहिये (नो चेत्) यदि आप ऐसा नहीं करते हैं (तर्हि) तो (अस्याः असुनिपतनं

स्यात्) इसके मरण हो जाने की संभावना है । (त्वम् एव पातकी स्याः) जिसका तुम्हें ही पाप लगेगा (स्वापे अपि) निद्रा में भी (मनसि निहितम्) मन में रहे हुए (त्वाम्) आप से (वक्ति) कहती है-पूछती है कि (माम्) मुझे (किम् अमुञ्चः) आपने क्यों छोड़ा है (स्वामिन्) हे स्वामिन् ! (ब्रूहि) बोलो-उत्तर दो. अरे ! (कथमिव) क्यों नहीं (साम्प्रतम्) इस समय आप (मनाक् भाषसे) मुझे थोड़ा सा भी उत्तर दे रहे हो ।

भावार्थ—नाथ ! जब वह इस तरह की अशान्त स्थिति भोग रही है तो मेरी राय में उसे इस समय आपको अपना लेना चाहिये, ताकि उसे धैर्य बंध जाये. नहीं तो हो सकता है कि उसका अकाल मरण हो जावे और आपको दोष का पात्र बनना पड़े । आपके प्रति तो उसका इतना अधिक गहरा अनुराग है कि वह सोते समय में भी मन में समाये हुए आपसे यही पूछती है कि मुझे आपने क्यों छोड़ा ।

स्वामिन् ! है वो शुभमति सती आपमें रक्त चित्ता,
सो त्याज्या है नहिं इस दशा में सुनो बात मेरी
जो वीती सो अब तुम उसे भूल जाओ, सम्हारो
जाके राजीमति अति सती को, नहीं तो बनोगे
जाते उस्के यदि विरह में प्राण हैं तो निमित्त
निद्रा में भी वस ! वह यही आपसे पूछती है
छोड़ी क्यों है दयित ! तुमने प्रीति ऐसी लगाके
बोलो बोलो-चुप मत रहो, बात क्या थी कहो तो ।।४९।।

नाथ ! आप उसको अपना कर उसके दुख को दूर करो ।
उसका मन तुममें विलीन है इसका भी तो ध्यान धरो
पूर्व घटित घटना को विस्मृत करके उस पर दया करो
प्राण बचें जैसे भी उसके ऐसा ही अब यत्न करो
यदि ऐसा नहिं आप करेंगे—तो यह निश्चय ही जानों
प्राण पखेरू उड़ जावेंगे असमय में उसके मानों
क्यों निमित्त बनते हो ऐसे अशुभ कृत्य के आप अभी
जनता का मुख बन्द न होगा यही कहेंगे लोग सभी

हैं अपराधी नेमि,—अतः मत बनों आप इसके भागी
इससे तो है यही शुभंकर अभी न होओ वैरागी
पराकाष्ठातीत मोह है तुम पर उसका नाथ ! सुनो
दे उलाहना सुपने में वो तुम्हें मनाती नाथ ! गुनो
कहती है बस ! यही कि तुमने मेरा क्यों परिहार किया
यदि ऐसा ही करना था क्यों मेरे मन में वास किया
कारण बिना बताये स्वामिन् ! मन में से नहिं जा सकते
बोलो–कुछ तो कहो–हृदय-धन ! यों ही क्यों मुझ को तजते ॥४९॥

उद्वाहे मे मृगगणवधः स्यादितीशोक्तिमात्रात्
त्वं मां मुक्त्वा व्रतसमितिवान् हन्त ! जातोऽसि साधुः
पृच्छामि त्वां मनुजकरुणा रूपकारुण्यहीना
चेदस्तीत्थं मनसि वद किं मानवे श्रेष्ठतोक्ता ॥५०॥

अन्वय-अर्थ—(ईश) हे नाथ ! (मे उद्वाहे) मेरे विवाह में (मृगगणवधः स्यात्) मृगपशुओं का वध होगा (इति उक्तिमात्रात्) इस प्रकार के कहने मात्र से (त्वम्) आपने (माम्) मुझे छोड़ दिया–और छोड़कर (हन्त) बड़े हर्ष की बात है कि आप (व्रतसमितिवान्) व्रत और समितियों की आराधना करने वाले (साधुः जातः असि) साधु हो गये ("तर्हि") तो मैं (त्वाम् पृच्छामि) आपसे पूछती हूं कि (मनुजकरुणा) मानवदया (रूपकारुण्यहीना) पशुओं पर की गई दया से हीन है ? (चेद् इत्थम् अस्ति) यदि इस प्रकार से है तो (वद) कहो (मानवे श्रेष्ठता किं उक्ता) मनुष्यों में श्रेष्ठता क्यों कही गई है ?

भावार्थ—हे नाथ ! आपने ऐसा सुनकर कि "इस विवाह में मृगादि मूक प्राणियों का वध होगा" यदि मुझे छोड़ दिया है और ये दिगम्बरी दीक्षा धारण करली है तो मैं आपसे यह पूछती हूं कि क्या मनुष्य-दया से पशु-दया बड़ी है ? यदि है तो फिर मनुष्य में श्रेष्ठता क्यों कही गई है ? उत्तर दीजिये—

देखो राजीमति ! इन बंधे दीन प्यारे मृगों की,
होगी हत्या इस प्रणय के सूत्र में बन्धने से ,
सो छोड़ा है परिणय, सुना नाथ ! ये छद्म ही था,
क्योंकि स्वामिन् ! मृगहनन का था न कोई इरादा ।
कोई का भी, विन समझ के, क्यों मुझे बीच में ही

छोड़ा, मोड़ा वदन मुझसे क्यों, कहो क्या करूं मैं
जाऊं कांहां ! शरण किसकी, कौन मेरा यहाँ है—
साथी, साथी तुम जनम के थे अकेले, कहो तो
मेरी नैया तुम विन विभो ! पार कैसे लगेगी,
सोचो—बोलो, चुप मत रहो, नाथ ! बोलो कहो तो
तिर्यञ्चों पें इस तरह की सत्कृपा की अपेक्षा
ओछी है क्या मनुज करुणा, जो मुझे छोड़ दी है,
हां, ऐसा है यदि तुम कहो तो बताओ मुझे ये,
शास्त्रों में है कथन गुरुओं ने भला क्यों किया यों
"होती है ये मनुजतन की प्राप्ति पुण्योदयेन,"
मेरे परिणय बंधन से इन घिरे हुए पशुओं का नाश।
राजुल ! होता,—तो मैं कैसे इनका लख सकता था त्रास
सो हे नाथ ! नहीं कुछ भी था यह तो केवल छलभर था
तुम्हें विरागी करने को, यह रचा गया आडम्बर था
मेरी आशा की श्वासों को इकदम हाय ! कुचलने को
चक्र चलाया गया नाथ ! ये मम सुहाग-सुख दलने को
नाथ ! पूछती हूं मैं तुमसे, है पशुकरुणा से ओछी
मानवतनधारी की करुणा ? तो यह बात झूंठ सोची
क्योंकि शास्त्र मानव सुयोनि को सर्वोत्तम बतलाता है
मानव के प्रति मानव को उपग्रह का पाठ पढाता है
मानवतन मौलिकनिधि जग में बड़े पुण्य से मिलता है
मुक्ति-महल में जाने का पथ शुद्ध यहीं से चलता है
अतः अन्य गतियों से यह गति बड़ी अनर्घ्य बतायी है
पशुओं पर तो दया करी, पर मुझ पर दया न आयी है ।।५०।।

क्षुब्धं शान्तं भवति यदि ते दर्शनात्स्वान्तमस्याः
गन्तव्यं तत्सदनमधुना दुःखिपुंभिः समाढ्यम्
दृष्ट्वा सा त्वां मनसि समतां धारयिष्यत्यनूनां
नूनं कष्टापतितभविनां साधवोऽन्ते शरण्याः ।।५१।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (यदि ते दर्शनात्) यदि आपके दर्शन से (क्षुब्ध अस्याः स्वान्तम्) क्षुब्ध इस मेरी सखी का मन (शान्तं भवति) शान्ति को प्राप्त क

लेता है, तब (दुःखिपुंभिः समाढ्यम्) दुःखित परिजनों से युक्त हुए (तत्सदनम्) उसके निवास भवन पर (अधुना) इस समय (गन्तव्यम्) आपको जाना चाहिये, (त्वां दृष्ट्वा) तुम्हें देखकर (सा) उसे (मनसि) मन में (अनूनां समताम् धारयिष्यति) बहुत अधिक समता आ जावेगी (नूनम्) यह तो निश्चित है कि (कष्टापतितभविनाम्) कष्ट में पड़े हुए प्राणियों के (अन्ते) अन्त में (साधवः शरण्याः) साधुजन ही रक्षक होते हैं ।

भावार्थ—हे नाथ ! यदि आपके दर्शन पाकर सखी का क्षुब्ध हुआ मन शांति लाभ-कर लेता है और उसमें समता आ जाती है तो आपको उसके निवास भवन पर जो कि दुःखित जनों से भरा हुआ है अवश्य जाना चाहिये, क्योंकि कष्ट में पड़े हुए मानव के रक्षक अन्त में साधुजन ही तो होते है ।

जो थी स्वामिन् ! तव हितरता नाथ ! छोड़ी उसे क्यों ?
क्यों ये ऐसी दुखदघटना आप द्वारा घटी है ?
है वो साध्वी इस तरह की आपकी वृत्ति से ही—
क्षुब्धस्वान्ता इस समय में, सो प्रभो ! आपसे है—
ऐसी अर्जी—कि यदि उसका क्षुब्धस्वान्त प्रशान्त
हो जाता है—तव दरश से-तो पधारें सखी के
प्रासादों में—सकल जिनमें बंधु दुःखी बने हैं
देखेगी वो जब प्रभु ! तुम्हें तो भगेगी अशान्ति
औ जागेगी मधुर उसके चित्त में शान्ति शान्ति
होते कष्टापतितजन के कष्टहन्ता सुसन्त ।।

जो थी शुभचिन्तक सदैव से जिसने अपना तुमको ही,
सब कुछ समझा था स्वामिन् ! क्यों छोड़ दिया है उसको ही
बिना विचारें किये कार्य से व्यर्थ कष्ट में डाल दिया
नाथ ! आपने उस अबला को—असमय में जो त्याग दिया
अब कर्तव्य यही कहता है कम से कम उसको तो दो
अपने दर्शन समता धर कर, ममता तज, करुणा युत हो
ऐसा करने से उसका मन शान्तभाव से युत होगा
औ अकंप हो करके तुमको विविध दुआएँ ही देगा

अतः पधारो नाथ ! कृपा कर दुखिया के उस मन्दिर में
दुःखित बन्धुजनों से जो है परिवृत बाहर अन्दर में
होगा भला आपका होगा जीवन उसका हराभरा
कष्टापतित जनों का रक्षक होता जग में संत खरा ॥५१॥

अल्पायासं भवति सुलभं यच्च तत्पूर्वमेव,
संप्राप्तव्यं विबुधजनता नीतिमेतां प्रवक्ति
मुक्तिश्चेत्ते ननु प्रियतमा सा महद्भिस्तपोभि-
र्देहक्लेशैर्विविधविधिभिः कष्टसाध्यैश्च लभ्या ॥५२॥

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (यत्) जो वस्तु (अल्पायासैः) थोड़े से परिश्रम द्वारा (सुलभं भवति) साध्य-प्राप्त होने योग्य होती है (तत् पूर्वम् एव संप्राप्तव्यम्) उसे पहले ही प्राप्त कर लेनी चाहिये (एतां नीतिं विबुधजनता प्रवक्ति) इस नीति को प्राज्ञजन कहते हैं. सो (चेत्) यदि (ते) आपको (मुक्तिः ननु प्रियतमा) मुक्ति ही अत्यन्त प्रिय है तो (सा) वह (देहक्लेशैः) शरीर को कष्टकारी (विविधविधिभिः) अनेक प्रकार की विधिओं वाले ऐसे (कष्ट साध्यैः) कष्टसाध्य (महद्भिः तपोभिः) बड़े २ तपों द्वारा (लभ्या) प्राप्त होती है ।

भावार्थ—हे नाथ ! जो प्राज्ञजन हैं. वे तो ऐसा ही कहते हैं कि जो थोड़े से परिश्रम करने से प्राप्त होने योग्य हो तो उसे पहिले ले लेनी चाहिये । परन्तु आप तो उल्टा ही कार्य कर रहे हैं । देहक्लेशकारी कष्टसाध्य ऐसे तपों द्वारा जो बड़े परिश्रम से प्राप्त होने वाली है उसे आप प्राप्त करने के लिये कटिबद्ध हो गये हैं और जो अल्पायास साध्य है उसे छोड़ रहे हैं. सो ऐसा नीतिविरुद्ध कार्य करना आपको शोभा नहीं देता है ।

स्वामिन् ! जो हो सुलभ अल्यायास से वह प्रथम ही-
ले लेना ही उचित है यों नीतिवेत्ता बताते
मुक्ति श्री है यदि प्रभु ! तुम्हें सर्व श्रेयस्करी[1] तो
है वो ऐसी सुलभ नहिं जैसी[2] सुलभ्या सखी है
वो तो नाना नियमव्रत की साधना से सधे है

१ सब से श्रेष्ठ प्यारी (२) तो वो ऐसी सुलभ नहीं है है जिसी ये दुलारी

होतीं जिससे विविध दुःखों की झडी आत्मा में ।
मानों नेमे ! हठ मत करो जो कहा है विचारो,
सोचो सबका भला अपना ही भला क्यों सँभारो ।।५२।।

कंचित्कालं निवस निलये सद्गृहीभूय, पश्चात्,
राजीमत्या सह यदुपते ! निर्विशेरुर्जयन्तम् ।
मन्यस्व त्वं सुवचनमिदं स्वाग्रहं मुञ्च नाथ !
भोगं भुक्त्वा न भवति गृही मुक्तिपात्रं न चैतत्[1] ।।५३।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (सद्गृहीभूय) सद्गृहस्थ होकर आप (कञ्चित्कालम्) कुछ समय तक (निलये निवस) घर पर रहो फिर (यदुपते) हे यदुपते ! आप (राजीमत्या सह) राजीमती के साथ (ऊर्जयन्तं निर्विशेः) इसी गिरनार पर आजाना । (इदं सुवचनं मन्यस्व) आप मेरी इस बात को मानो (नाथ ! स्वाग्रहं मुञ्च) नाथ ! आप आग्रह को छोड़ो, (एतत् न) ऐसा नहीं है कि (भोगंभुक्त्वा) भोगों को भोग कर (गृही मुक्तिपात्रं न भवति) गृहस्थ मुक्ति का पात्र नहीं होता है ।

भावार्थ—हे नाथ ! आप मेरी बात मानो और अपने आग्रह को छोड़ो पहिले आप कुछ समय तक सद्गृहस्थ बनकर घर पर रहो बाद में राजीमती के साथ ही इसी गिरनार पर्वत पर आकर तपस्या करना । भोगों को भोगने के बाद भी गृहस्थ मुक्ति का पात्र बना रहता है ।—

हे राजुल के नाथ ! रहो कुछ दिन तक घर में
मत जाओ घर छोड़ अभी इस नई उमर में
राजुल के ही साथ साथ रह कर व्रत पालो
सद्गृहस्थ बन संयम-दम-का मार्ग सँभालो
चारित सुस्थिर बनें, राजमति के सँग तब ही
धरो दिगम्बर वेष बनो निर्ग्रन्थ स्वयं ही

(१) भोगं भुक्त्वा न पुनरिदं मुक्तिपात्रं भवेन्नो ।।

करो तपस्या नाथ ! इसी गिरि पर फिर दोनों
ऐसे होगा शान्त सखी का स्वान्त सलोनो
मानो मेरी बात तजो यह आग्रह दुखकर
परिचित होकर भोग छोड़ना होता सुखकर
परम्परा से गृही व्रती बनकर होता है
मुक्तिपात्र निःशल्य शास्त्र ऐसा कहता है ।। ५३ ।।

साधोश्चित्ते क्वचिदपि कदाप्यस्ति न द्वैधवृत्तिः,
अद्वैतात्मा भवति स यतः शत्रुमित्रे समानः ।
नोचेन्नासौ गर्हितमनाः स्वादुभक्ष्ये प्रलुब्धः
सिद्धेर्धाम व्रजति न सकः स्वान्यकारुण्यहीनः ।।५४।।

अन्वय अर्थ—हे नाथ ! (साधोः चित्ते) साधु के चित्त में (क्वचिदपि कदाऽपि) किसी भी समय में कभी भी (द्वैधवृत्तिः न भवति) द्वैधवृत्ति नहीं होती है (यतः) क्योंकि (स) वह (अद्वैतात्मा भवति) अद्वैत स्वभाव वाला होता है. इसीलिये (शत्रुमित्रे समानः) शत्रु और मित्र उसकी दृष्टि में समान होते हैं । (नो चेत) यदि ऐसी दृष्टिवाला (असौ) वह (न) नहीं है तो वह साधु नहीं है (गर्हितमनाः) किन्तु निंदनीय विचार वाला (स्वादुभक्ष्ये प्रलुब्धः) यह सुस्वादु-भोजन में प्रलुब्ध हुआ असाधु ही है । और ऐसा (सकः) वह असाधु (स्वान्यकारुण्यहीनः) अपनी और पर की दया से रहित हुआ (सिद्धेः धाम) मुक्तिस्थान में (न व्रजति) नहीं पहुँचता है ।

भावार्थ—साधु कभी भी किसी भी जगह निज पर के भेद से विहीन होकर समदृष्टि वाला ही होता है । यदि वह ऐसी प्रवृत्ति वाला नहीं है तो वह साधु नहीं किन्तु भक्ष्य पदार्थ की लोलुपता वाला असाधु ही है. वह कभी भी संसार से पार नहीं हो सकता है ।

स्वामिन् ! होता मुनिमन सदा एकसीवृत्तिवाला,
होता किञ्चित् नहि विषमता का अधिष्ठान उसमें
ये है मेरा प्रियवर सखा ये न मेरा सखा है

ये है मेरा अशुभकरता ये मुझे शान्ति देता
होती ऐसो नहिं तनिक भी कल्पना स्वप्न में भी
होती वृत्ति स्वपरकरुणाशील साधुजनों की
सच्चे त्यागो परजनदुखी देखते आर्द्र चित्त—
हो जाते हैं—पर नहिं विभो ! आप में आर्द्रता है
ऐसे कैसे तब प्रभु ! तुम्हें मुक्तिरानी वरेगी ।।५४।।

स्वपरभेद से रिक्त सदा मुनिजन मन होता
द्विविधा का सद्भाव नहीं वहां मिलता सोना
शत्रु मित्र समभाव वहां नित क्रीडा करता
नहीं विषमताभाव वहां अपना पद रखता
हो इससे विपरीत वृत्ति वह साधु नहीं है
वह है भक्ष्य प्रलुब्ध स्वादु पर वञ्चक ही है
त्यागीं होते दयाशील पर दुख में दुःखी
पर सुख में हों सुखी यही उनकी सद्वृत्ती ।।५४।।

शोभा ते स्याज्जगति च यथा त्वां तथाऽहं ब्रवीमि
स्वस्था सा वा भवति यथा तं विधिं चापि वच्मि ।
गत्वा तत्र प्रथममनुरागात्त्वया सा समीक्ष्या
पृष्टव्या तत्कुशलवचनैर्मस्तके स्पर्शनीया ।।५५।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (जगति) संसार में (यथा) जिस प्रकार से (ते) आपकी शोभा-श्रेष्ठता—हो सकती है (अहम्) मैं (त्वां) आपको (तथा ब्रवीमि) उस उपाय को कहती हूं. और (यथा) जिस प्रकार (सा वा स्वस्था भवति) वह स्वस्थ हो सकती (तं विधिं चापि) उस विधि को भी मैं (वच्मि) आपसे कहती हूं (त्वया) आप (प्रथमम्) पहले (तत्र) वहां पर (गत्वा) जाकर के (अनुरागात्) बड़े अनुराग से (सा समीक्ष्या) उसे देखें. पश्चात् (तत्कुशलवचनैः) उससे उसके कुशल समाचार पूछें । और फिर उसके (मस्तके स्पर्शनीया) मस्तक पर हाथ फेरें ।

भावार्थ—हे नाथ ! राजुल का परित्याग करने पर भी आपकी संसार में कीर्ति बनी रहे, लोग आपको नाम न रखें—इसका उपाय मैं बताती हूं और साथ में यह

भी बताती हूं कि वह इस प्रकार से स्वस्थचित्त होगी ! आप यहां से उसके घर पर जावें, और सर्वप्रथम उसे अनुराग से देखें, बाद में आप उसकी उससे कुशलता पूछें और पूछकर फिर उसके मस्तक पर हाथ फेरें।

स्वामिन् ! शोभा अब जगत में आपकी यों वढेगी
कोई भी तो नहिं धर सकेगा तुम्हें नाम नाथ !
हो जावेगी मम वह सखी स्वस्थ भी जो बनी है—
अस्वस्था—है बस इक यही नाथ ! इसका उपाय
जैसे, हो वो दुख विरहिता मैं उसे हूं बताती
जावें पहले महल भीतर आप उसके, यहां से
देखें उसको नयनभरके बाद में आप पूछें
हो तो अच्छी तरह तुम क्यों सोच मेरा करो हो
आशा मेरी सजन बनने की तजो औ हमें दो—
आज्ञा दीक्षा ग्रहण करने की खुशी से-दुखी क्यों—
होती, साथी नहिं जगत में कोइ होता जनम का
छोड़ो छोड़ो बिलकुल लगा मोह ये पूर्व अव का
ऐसा स्वामिन् ! कह कर उसे आप संबोध देना
औ माथे पै कर धर विदा साथ ही मांग लेना
हो जावेगी वह नियम से स्वस्थचित्ता सलोनी
आ जाना फिर मुदितचित हो आप स्वामिन् ! यहीं पै ॥५५॥

काचित्सखी तस्मिन्नेव समये वक्तीत्थम्—

सर्वोत्कृष्टस्तव परिकरो देवमुद्रातिशायी,
देहस्तेऽयं त्रिभुवनपते ! वैभवं चास्त्यनल्पम
चित्ताह्लादी परममहिमोपेतशक्तिः प्रभावः
सर्वैर्मान्यो भुवनविदितः किन्तु साध्यं तपोभिः ॥५६॥

अन्वय-अर्थ—(त्रिभुवनपते) हे त्रिभुवन के पति ! (तव परिकरः) आपका परिकर (सर्वोत्कृष्टः) संसार में सब से उत्तम है (ते अयं देहः) आपका यह

यह शरीर (देवमुद्रातिशायी) देवों के शरीर को भी तिरस्कृत करता है. उनके शरीरसे भी बढकर है । (वैभवं अनल्पं अस्ति) वैभव भी आपका कम नहीं हैं (चित्ताह्लादी परममहिमोपेतशक्तिः) समस्त जीवों के चित्त को लुभाने वाला और परममहिमा की गरिमा से विशिष्ट शक्ति से संपन्न (प्रभावः) आपका प्रभाव है–तथा वह (सर्वैः मान्यः) समस्त जीवों को शिरोधार्य एवं (भुवनविदितः) त्रिभुवन विदित है. ऐसी स्थिति में (तपोभिः किन्नु साध्यम्) अब और क्या तपस्या से आप प्राप्त करना चाहते हैं ।

भावार्थ—हे त्रिभुवनपते ! जब कि आपके पास किसी भी वस्तु की कमी नहीं है. आपका परिकर सब से बढचढ कर है. देवों की देह से भी उत्तम आपका शरीर है. वैभव की कमी नहीं. प्रभाव भी आपका असाधारण है. तो फिर आप हमें बताओ कि आप तपस्या करके और कौनसी अब वस्तु प्राप्त करना चाह रहे हो ।

सर्वोत्तम है परिकर प्रभो ! देह भी आपकी है,—
देवों से भी अधिक उतम,–और है आपका ये—
वैभव भारी–कमी कुछ भी वस्तु की है न कोई
चित्ताह्लादी परममहिमोपेत सामर्थ्यवाला
सर्वप्राणी-महित ऐसा है अनोखा प्रभाव
स्वामिन् ! इससे अधिक अब तुम और क्या चाहते हो
जिसके खातिर कठिनतर ये आदरी है तपस्या
मानो नेमे ! उठ घर चलो धैर्य सबको बंधाओ ।।५६।।
अन्या काचित्तत्सखी कथयति

इत्थं वाञ्छा श्रमणवर ! याऽभून्मदीयाऽत्र हेतुः
निस्संगस्त्वं क्षितिभृति कथं वारिबिन्दूत्करोत्थाम्
पीडां हा ! प्रावृषि रविमुषि क्षोभकृद्झंझयाऽस्मिन्
युक्ते वोढास्यनलवियुते सद्म तस्याः प्रयाहि ।।५७।।

अन्वय-अर्थ—(श्रमणवर) हे श्रमणोत्तम ! (इत्थं मदीया या वाञ्छा) इस प्रकार की जो मेरी भावना (अभूत्) हुई है सो (अत्र हेतुः) इसके होने में कारण है । और वह कारण ऐसा है कि (त्वं निस्संगः) आप संग-परिग्रह-से रहित हो. अतः

(क्षितिभृति) इस पहाड़ पर (वारिबिन्दूत्करोत्थाम्) पानी की बिन्दुओं से उ
हुई पीडा को (रविमुषि अस्मिन् प्रावृषि) सूर्य को ढक देने वाले इस वर्षाकाल
जो कि (क्षोभकृद्झंझया) क्षोभ को उत्पन्न करने वाली झंझावायु से (युत
सहित है. एवं (अनलवियुते) अग्नि से भी विहीन है (कथं) कैसे (वोढा
सहन करोगे. (तस्याः सद्म प्रयाहि) इसलिये आप उसके घर जावें ।

विशेषार्थ—देखो प्रभु–सावन का तो यह महिना है और आपका शरीर व
विहीन है. वर्षा के साथ २ जब झंझा वायु का प्रकोप होगा तो आपका शरीर
ठंडी २ जलविन्दुओं को कैसे सहन करेगा. सूखा ईंधन यहां मिलेगा नहीं कि ि
जलाकर आप शीत निवारण कर सकें । अतः उत्तम यही है, कि इस समय आप मे
सखी के भवन पर ही चलकर विराजें ।

सावन का है समय, वरसा मूसलाधार होगी,
साधन भी तो कुछ नहिं प्रभो ! पास में आपके है ।
होगा कैसे सहन तुम से कष्ट वरसात का ये,
स्वामिन् ! झंझापवन भी तो जोर जब २ करेगा ।
कैसे होगा सहन उसका वेग तव चंड ठंडा,
मेघों से भी गगनतल में सूर्य आवृत रहेगा ।
बाधा होगी नहिं तनिक भी शीत की दूर, सोचो,
सूखा ईंधन जब नहिं यहां तापने को मिलेगा
कैसे होगी प्रकट तन में उष्णता नाथ ! सोचो
बाधाओं से वचकर प्रभो ! इष्ट है जो तपस्या
तो है ये ही उचित अधुना आपको आप जावें
बाधाओं से रहित सजनी के सदन में खुशी से ।।७५।।

काचिदमुना प्रकारेण स्वामिप्रायं ब्रूते—

विद्युद्दन्तं स्तनितमुखरं दर्दुरारावदुष्टम्
कादम्बिन्याऽऽकुलितनिखिलप्राणिचक्रं विषाढ्यम्
श्यालैर्व्यालैः कृमिकुलशतैः संपरीतं विभाव्य
मासं ह्येवं त्यज गिरिवरं सद्म तस्याः प्रयाहि ।।५८।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (विद्युद्वन्तम्) इस सावन के महीने में आकाश में बिजलियां चमकेंगी (स्तनितमुखरम्) मेघों की गड़गड़ाहट होगी (दर्दुरावदुष्टम्) मेंढकों की चारों ओर टर्र टर्र कर्णकटुक आवाज होगी (कादम्बिन्याऽऽकुलितनिखिलप्राणिचक्रम्) मेघमाला प्रत्येक प्राणी को आकुल व्याकुल करेगी (श्यालैः व्यालैः कृमिकुलशतैः) श्यालों व्यालों एवं सैकडों कृमियों से भूमि व्याप्त रहेगी. सो (एवं मासम् विभाव्य) इस प्रकार इस महिने का विचार कर (गिरिवरं त्यज) आप इस गिरि को छोड़ दें और (तस्याः सद्म प्रयाहि) सखी के भवन में पधारें।

भावार्थ—सावन का हे नाथ ! यह महिना चल रहा है इसमें बिजलियां चमकेंगी, मेघों की गड़गड़ाहट भी होगी. मेंढक भी सब ओर बोलेंगे—बरसात के कारण प्रत्येक प्राणी आकुल व्याकुल दिखाई देगा. अतः आपसे मेरी यही प्रार्थना है कि आप इस गिरि को छोड़कर निर्विघ्नरूप से धर्मध्यान करने के निमित्त सखी के भवन में पधारें।

सावन का है समय इसमें नाथ ! सौदामनीयां,
　　चमकेंगी जब सघन नभ में और आकाश में भी
होगा भारी गर्जन, तुम्हें तव प्रभो ! भय लगेगा
　　पानी पानी सब तरफ ही जब भरा ही दिखेगा
तो जाओगे फिर किधर को, आप कुछ तो विचारो
　　श्यालों, व्यालों, कृमिकुलशतों से मही व्याप्त होगी
तो बोलो तो क्योंकर विभो ! ध्यान में चित जमेगा
　　अच्छा तो है बस अब यही आप ऐसे समय में
जावें राजोमति-भवन में छोड़ के नाथ ! गिरि को ॥५८॥

पश्चादागता द्रवितान्तःकरणा काचित् सखी संदेशम् श्रावयति तस्याः

स्वामिन् ! देहस्तव विवसनो वर्ततेऽतः कथं त्वम्,
　　मेघेभ्य स्तानविरलगतोन्निर्गतान् वारिबिन्दून
सावश्यायान् कमलमसृणः शक्ष्यति प्रावृषेण्यान्
　　मुक्त्वा साधो ! गिरिवरभुवं साम्प्रतं सौधमेहि ॥५९॥

अन्वय-अर्थ—(स्वामिन्) हे प्रभो ! (कमलमसृणः) कमल के जैसा कोमल (तव देहः विवसनः वर्तते) आपका शरीर निर्वस्त्र-वस्त्र धारण किये हुए नहीं है (अतः) इसलिये वह (मेघेभ्यः निर्गतान्) मेघों से बरसती हुई (सावश्यायान्) ओलों से युक्त (तान्) उन (अविरलगतीन्) निरन्तर बरसने वाली (प्रावृषेण्यान्) बरसात की (वारिबिन्दून्) पानी की बूँदों (को कथं शक्ष्यति) कैसे सहन कर सकेगा ? अतः (साधो) हे साधो ! (गिरिवरभुवं मुक्त्वा) इस पर्वतस्थली को छोडकर (साम्प्रतम्) आप इस समय (सौधम्) मेरे महल में (एहि) आ जावें !—

भावार्थ—स्वामिन् ! ये वर्षाऋतु है। इसमें अविरलगति से पानी बरसेगा ही साथ में ओलों की भी वृष्टि होगी ही. अतः हमें ये चिन्ता है कि कमल जैसा कोमल आपका यह नग्न शरीर वर्षा कालीन इस स्थिति का सामना कैसे कर सकेगा। इसलिये अच्छा यही है कि आप इस समय यहां से मेरे भवन में पधारें।

स्वामिन् ! है ये सकलतन ही आपका वस्त्रहीन
वर्षा का औ समय यह है, दामिनी कामिनी सी—
चमकेगी. जब नभस्तल में सो चकाचौंध में क्या—
सूझेगा, तब स्वयं सोचो चित्त चंचल बनेगा
घिर आवेंगी गगनभर में घनघटाएँ विकट जब
बर-सायेंगी अथकगति से नीर ओले अधिक वे
जाओगे तब किधर उठकर ठौर भी कौन देगा
होगी कोमल कमल जैसे देह की दुर्दशा ही
ठंडी २ नगन तन पर बूंद जब २ पडेंगी
होगी कैसे सहन उनकी ठंड, तब याद घर की
आवेगी, सो बस अब यही प्रार्थना नाथ ! ये है,
मानो स्वामिन् ! हठ मत करो घर सखी के पधारो
छोड़ो गिरि को मिलकर वहां श्रावणोत्सव मनाओ ।।५६।।

———

अपरा काचित्स्वाभिप्रायमित्थं प्रकटयति

दोलायां ताः प्रमदवनिता गानसक्ता यदा स्यु—
स्तस्मिन् काले विरहजनितं गानमाश्रुत्य तासाम्
चित्तं ते स्यात्कथमिव विभो ! ध्यानमग्नं ततस्त्वं
मुक्त्वा शीघ्रं गिरिवरभुवं साम्प्रतं सौधमेहि ।।६०।।

अन्वय-अर्थ—हे (विभो) नाथ ! (दोलायां) झूलों पर (बैठी हुई) (ताः प्रमदवनिता) वे प्रमदवनिताएँ (यदा) जब (गानसक्ताः स्युः) गीतों में मग्नचित्तवाली बनेंगी (तस्मिन् काले) उस समय (विरहजनितं तासां गानं आश्रुत्य) उनके विरह गीतों को सुनकर (ते चित्तं कथमिव ध्यानमग्नं स्यात्) आपका चित्त ध्यान करने में कैसे लगेगा । (ततः त्वम्) इस कारण आप (साम्प्रतम्) इस समय (शीघ्रम्) जल्दी से जल्दी (गिरिवरभुवं मुक्त्वा) पर्वतीय प्रदेश को छोड़कर (सौधं एहि) सखी के महल में पधारो ।

भावार्थ—स्वामिन् ! सावन का यह महिना है प्रमदवनिताएँ झूलों पर झूलती हुईं विरह के गीत गावेंगी । उन गीतों को सुनकर आपका चित्त स्थिर नहीं रहेगा । अतः ध्यान की स्थिरता के निमित्त आप इस स्थान को छोड़कर सखी के भवन पर पधारें ।

है सावन का सुभग महिना ये सलोना, भलो ना
प्रोषितभर्तृक युवतिजन को, क्योंकि ये कष्ट देता
सो हे स्वामिन् ! इस समय में आप प्यारी सखी के—
जाओ घर पे क्यों शिखर पै आप बैठे अकेले
साधन है जब सब कुछ वहां कष्ट क्यों सह रहे हो
उद्यानों में हर जगह में नाथ ! झूला पड़े हैं
दोनों झूलो हिलमिल प्रभो ! श्रावणोत्सव मनाओ
हाथों में औ चरणतल में मेंहदी को रचा के
झूलेंगी जब प्रमदवनिता गीत गाती विरह के
कैसे होगा सुथिर स्वामिन् ! ध्यान, उन गायनों को—
सुनते ही, सो गिरि तज अभी ध्यानसिद्धयर्थ जाओ

आली के ही भवन, पश्चात् साधना रक्त होना ।।६०।।

अन्या काचित् तत्सखी इत्थं गदति—

दोलारूढा नवयुवतयस्तारतारस्वरेण,
गास्यन्ति त्वं विकलहृदयाः श्रोष्यसीह प्रगीतिम्
लक्ष्यीकृत्य स्वकपतिमनोवृत्तिमन्यत्र सक्तां
मासेऽस्मिंस्तां कथमिह सुधीः स्या उपालम्भपूर्णाम् ।।६१।।

अन्वय-अर्थ—(दोलारूढाः) झूलों पर झूलती हुई (नवयुवतयः) तरुण स्त्रियां (अस्मिन् मासे) इस महिने में (स्वकपतिमनोवृत्तिम्) अपने २ पतियों की मनोवृत्ति को जो कि (अन्यत्र सक्ताम्) अन्य स्त्रियों में आसक्त हो रही है (लक्ष्यीकृत्य) लक्ष्य करके (विकलहृदयाः) विकल हृदय होकर (तारतारस्वरेण) जोर जोर से (उपालम्भपूर्णां प्रगीतिम्) उलाहनों से भरे हुए गीतों को (गास्यन्ति) जब गावेंगी (त्वं तां श्रोष्यसि) और आप यहां उन्हें सुनेंगे (कथं सुधीःस्याः) तो आपकी बुद्धि ठिकाने कैसे रहेगी ।

भावार्थ—हे नाथ ! नगर की नवोढाएँ इस महिने में चञ्चलचित्तवाली होकर झूला झूलती हुई बड़े जोर २ से ऐसे गीत कि जिनमें अपने २ पतियों की अन्यत्र आसक्त मनोवृत्ति को उलाहना दिया गया है गावेंगी और उन्हें आप सुनेंगे, तो आपकी बुद्धि सुस्थिर कैसे रहेगी । अतः ध्यान की सिद्धि के लिये आप सखी के भवन में पधारें ।

झूलेंगी जब नवयुवतियां गायँगी गीत नाना
ऊंचे ऊंचे स्वरसहित हो, आपके कान में वे—
आवेंगे, तब सुथिर कैसे आपका चित्त होगा
होंगे उनमें उस प्रिय सजन को उपालम्भ भारी
जिनका अन्तःकरण रत है छोड़ के स्वप्रिया को
परनारी में, उचित है सो सद्म जावें सखी के
कानों में तब यह ध्वनि नहीं आपके में पड़ेगी
होगी नहिं तब चित विकलता ध्यान सुस्थिर जमेगा ।।६१।।

अन्या काचिदित्थं पृच्छति—

उक्तेनालं परमविदुषस्ते पुरस्ताद्, परं त्वं
स्वीयादास्याद्वदसि न मनागुत्तरं याच्यमानः
पृच्छामस्त्वां वयमतिजडा ज्ञातपूर्वं त्वयैतत्
तत्किं भूत्वा त्वमिह सुवरो बन्धुभिः सार्धमागाः ॥६२॥

अन्वय-अर्थ—(परमविदुषः ते पुरस्तात् उक्तेन अलम्) हे नाथ ! आप परम-विद्वान्–अवधि, मनःपर्यं ज्ञान के धारी हो. अतः अब आपके समक्ष हम क्या कहें : इतना ही कहना काफी है । (उत्तरं याच्यमानः) हम आपसे जो कहा गया है केवल उसी के उत्तर की याचना कर रहे हैं. (परम्) परन्तु (त्वम्) आप (स्वीयात् आस्यात्) अपने मुख से (मनाक्) थोड़ा सा भी (न वदसि) उत्तर नहीं दे रहे हैं. अतः (अति-जडाः) अत्यन्त मन्दबुद्धिवाले हम (त्वाम् पृच्छामः) आपसे पूछते हैं कि (त्वया एतत् ज्ञातपूर्वम्) आप तो पहिले से यह सब जानते ही थे (तत्किम्) तो फिर क्यों (त्वम् इह) आप यहां (सुवरो भूत्वा) अच्छे वर–दूल्हा–होकर (बन्धुभिः सार्धम्) बन्धुओं के साथ (आगाः) आये ।

भावार्थ—हे नाथ आप तो अवधिज्ञानशाली थे । अतः आपसे कुछ भी छिपा नहीं था, फिर भी हम अज्ञानी होने के कारण आप से यह पूछ रहे हैं कि जो ये घटना घटी है वह जब पहिले से ही आपको ज्ञात थी तो फिर दूल्हा बनकर आप यहां बरात लेकर क्यों आये ?

स्वामिन् ! थे तो तुम जनम से ही अवधिबोधशाली
फिर क्यों ऐसी अघट घटना आप द्वारा घटी ये
सोचा होता यदि प्रथम मे भूल ऐसी न होती
हैं अज्ञानी हम अब कहें आपसे क्या, कहा जो
उसका भी तो तुम तनिक भी नाथ ! उत्तर न देते–
हो–सो हम तो बस अब यही आपसे पूछते हैं
ये घटना तो जब अवधि मे आपको ज्ञात हो, थी
तो क्यों ऐसी बहुत भारी आप से भूल हुइ जो

दूल्हा बन कर सज धज यहां बन्धुओं के समेत
आये, औ क्यों अब कर चले रंग में भंग पूरा ।।६२।।

अत्रत्यां किं सकलजनतां त्वं सदुःखां विधातुं
आगाः, किं वा बहुपरिचयात् पूर्वकालेऽनयाऽमा
भुक्ते भोगे त्रुटि-परिभवाज्जायमानदौर्मनस्यात्
क्रुद्धो भूत्वा सुवरमिषाद्वैरनिर्यातनार्थम् ।।६३ ।।

अन्वय-अर्थ—हे नाथ ! (त्वम्) आप (किम्) क्या (अत्रत्यां सकलजनतां सदुःखाम् विधातुम्) यहां की-जूनागढ की—समस्त जनता को दुःखित करने के लिये (वा) अथवा (पूर्वकाले बहुपरिचयात्) कई भवों से अधिक परिचय होने के कारण (अनया अमा) इसके साथ (भुक्ते भोगे) भोगे गये भोगों में (त्रुटि-परिभवाज्जायमान-दौर्मनस्यात्) हुई त्रुटि या तिरस्कार के कारण उत्पन्न हुए दौर्मनस्य को लेकर के (क्रुद्धो भूत्वा) क्रोध में आकर (सुवरमिषात्) पति के छल से (किम् वैर निर्याननार्थम्) क्या उस वैर भाव को भँजाने के लिये (आगाः) आये थे ?

भावार्थ—नाथ ! अवधि ज्ञान के द्वारा पहिले से ही इस प्रकार की घटना आपको ज्ञात तो थी ही, फिर भी आप बारात लेकर यहां जो आये और बिना विवाह किये ही आप यहां से चले गये; तो हमतो इसका कारण यही समझते हैं कि आप इस प्रकार के व्यवहार से यहां की जनता को दुःखित करने के लिये या कई भवों के अति निकट के परिचय से भोगों के भोगने में राजुल द्वारा हुई त्रुटि से जन्य क्रोध को उससे चुकाने के लिये-उसका बदला लेने के लिये-ही पति के वेष में आये थे क्या ?

जूनागढ की सकल जनता को दुखी नाथ ! करने
आये थे क्या यदुकुलपते ! आप कुछ तो बताओ ?
दोनों की जो परस्पर में प्रीति थी कई भवों की
उसमें अन्तर क्यों पड़ गया, कौनसी भूल हुई है
ऐसी जो है नहिं वह क्षमायोग्य कुछ तो कहो, क्या
उसही का यह इस समय में आप बदला चुकाने
दूल्हा के मिष इस नगर में साथ लेकर बरात
आये थे ? सो नहिं उचित था खेलना खेल ऐसा ।।६३।।

स्वाभिप्रायं तदुदितकथं तं निवेद्यैव पश्चात्
ध्यानारूढं ह्यविचलितधियं नेमिनाथं निरीक्ष्य ।
सख्यो वान्ये सहृदयजना बान्धवा राजमत्याः
प्रत्यावृत्य स्वभवनमिताः शोकसंतप्तचित्ताः ॥६४॥

अन्वय-अर्थ—(तदुदितकथं स्वाभिप्रायं तं (प्रति) निवेद्य) राजीमति की कथा वाले अपने २ अभिप्राय को (तं "प्रति") नेमिनाथ से (निवेद्य) कह करके (एव) ही (पश्चात्) बाद में (अविचलितधियम्) प्रत्युत्तर नहीं देने वाले ऐसे (नेमिनाथम्) नेमिनाथ को (ध्यानारूढम्) ध्यान में मग्न (निरीक्ष्य) देखकर (राजीमत्याः) राजीमती की (सख्याः) सखियां (अन्ये बान्धवाः) अन्य बन्धुवर्ग (वा) तथा (सहृदयजनाः शोकसंतप्तचित्ताः) सहृदय जन शोक से संतप्त चित्त होकर के (प्रत्यावृत्य) वहां से लौट कर (स्वभवनं इताः) अपने २ भवन में आ गये ।

भावार्थ—इस प्रकार से अपना २ अभिप्राय राजुल की सखियों ने एवं अन्य बंधुजन आदिकों ने नेमिनाथ से कहा, पर नेमिनाथ ने उन्हें कुछ भी उत्तर नहीं दिया. धर्मध्यान में निमग्न उन्हें देखकर वे सबके सब वहां से वापिस होकर अपने २ भवन में आ गये ।

राजुल की सखियों ने एवं बन्धुजनों ने मिल करके
राजुल की सब व्यथा-कथा को कहा नेमि से डट करके
सुन करके भी नेमि न बोले खोले ओंठ न दो तक भी
ध्यान मग्न वे अविचल मन हो बैठे रहे स्थिरामन ही
जब कुछ उत्तर मिला नहीं तो वे सब के सब ही वहां से
लौट आये वापिस निज घर को होकर अतिभारी मन से ॥६४॥

स्वस्मिन् धैर्ये दृढतरमनाः स्वाम्ययं सावधानः
हर्षे शोके परिभवपदे निष्कलङ्काङ्कचित्तः
वीरंमन्या अपि च पुरुषा यत्र कामेन दग्धा-
स्तस्यां नार्यां मदनविजयी संवृतो नेमिनाथः ॥६५॥

अन्त में वे सब यों विचारते हैं—

अन्वय अर्थ—(अयं स्वामी) ये स्वामी (स्वस्मिन् धैर्ये) अपने धैर्य में (दृढतर मनाः सावधानः) दृढतरमन वाले हैं और सावधान हैं ! हर्षे शोके परिभवपदे निष्कल-

ङ्गाङ्गचित्तः) हर्ष में, शोक में एवं पराभव में इनके शरीर में और चित्त में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। अपने को (वीरमन्याः अपि च पुरुषाः) वीर मानने वाले पुरुषों को भी (कामेन यत्र दग्धाः) कामदेव ने जहां नाकों चने चबवा दिये—(तस्यां नार्यां नेमिनाथः मदनविजयी जातः) उसी नारी में ये नेमिनाथ मदन विजयी बन गये हैं।

भावार्थ—ये नेमिनाथ—समता के उपासक हैं और विकार से विहीनमनवाले हैं। जो अपने आपको सब से अधिक बलशाली मानते हैं ऐसे वे वीराग्रणी भी जिस नारी के समक्ष कामदेव के द्वारा नतमस्तक कर दिये जाते हैं उसी नारी में ये महात्मा नेमिनाथ कामदेव को नतमस्तक कर रहे हैं।

निज पथ पर हैं अडिग नेमिनाथ भगवान्
सुनकर भी राजुलव्यथा मन नहिं भयो म्लान
उत्तर भी देते नहीं ये हैं ध्यानारूढ
हम इनसे अब क्या कहें जाने ये सब गूढ
अविचल मन लख नेमि का रागविहीन प्रवीण
लौट गये सब निजसदन बन कर वदन मलीन ॥६५॥

———

पितृपुत्र्योर्मिथः संभाषणम्

राजीमत्या तदिदमखिलं नेम्युदन्तं निशम्य
स्वाभिप्रायः स्वहितकरणे पितृपार्श्वे प्रशान्त्या
प्रोक्तः श्रुत्वा तमथ पितरौ दुःखितौ तावभूताम्
ऊचाते तौ प्रियपतिपथे पुत्रि ! यानं न योग्यम् ॥६६॥

अन्वय-अर्थ—(राजीमत्या) राजीमती ने (अखिलं तदिदम् नेम्युदन्तं निशम्य) जब पूरा का पूरा यह नेमिनाथ का वृत्तान्त सुना तो सुन करके उसने (प्रशान्त्या) बहुत अधिक शान्ति के साथ (पितृपार्श्वे) पिता माता के समक्ष (स्वहितकरणे) आत्मकल्याण करने में (स्वाभिप्रायः) अपना अभिप्राय प्रकट किया (अथ तं श्रुत्वा) राजुल के अभिप्राय को सुनकर (तौ पितरौ दुःखितौ अभूताम्) वे उसके माता-पिता दुःखित हुए और (ऊचाते) कहने लगे (पुत्रि) हे बेटी ! (प्रियपतिपथे यानं न योग्यम्) प्रिय पति के मार्ग का अनुसरण करना अभी तुझे योग्य नहीं है।

भावार्थ—जब राजुल ने सखियों आदि के द्वारा नेमिनाथ का हाल-चाल सुना तो उसने बड़े विनम्र भाव से आत्मकल्याण के मार्ग में विचरण करने का अपना अभि-

आय माता-पिता से कहा । सुनकर वे दोनों दुःखित हुए और उन्होंने उससे ऐसा करना अभी उचित नहीं है ऐसा कहा–

मुनी नेमि की जब निस्पृहता राजीमति तब पहुंची पास
मात-पिता के—यों वह बोली पिता ! न अब तुम होउ उदास
मैं भी आत्मसाधना के पथ पर विचरूंगी तज गृहवास
दुःखित होकर बोले वे "नहिं अभी करो तुम व्रत की आश" ॥६६॥

यातो नेमिस्त्वदभिलपितो यात्वसौ नैव शोच्यः
अन्यं श्रेष्ठं सुभगसुभगं त्वत्कृतेऽहं ततोऽपि
अद्य श्वो वा नृपतितनयं मार्गयिष्यामि नूनं
का तस्य त्वं, भवति स च कस्ते स्वयं चिन्तयैतत् ॥६७॥

अन्वय-अर्थ– –हे बेटी ! (त्वदभिलपितः नेमिः यातः) तेरा मन चाहा नेमि चला गया है (असौ यातु, नैव शोच्यः) तो इसे जाने दे, इसका क्या शोक. (त्वत्कृते अहं ततः अपि सुभगसुभगं श्रेष्ठं) तुम्हारे लिये मैं नेमि से भी अत्यन्त सुन्दर श्रेष्ठ (नृपतितनयं अद्य श्वः वा नूनं मार्गयिष्यामि) राजपुत्र आज कल में तलाश करने वाला हूँ । (एतत् स्वयं चिन्तय) यह तुम स्वयं विचार करो कि (तस्य त्वं का:) उसकी तुम अब कौन होती हो और (ते स च कः) तेरा वह कौन (भवति) होता है–

भावार्थ—बेटी तुमने जिसे अपना जीवन साथी चुना था–यदि वह तुम्हें छोड़कर चला गया है तो जाने दे. इसकी क्या चिन्ता. मैं तो आज कल में तेरे योग्य दूसरे राजपुत्र की जो कि नेमि से भी अधिक श्रेष्ठ हो खोज करने वाला हूं । तू उसकी क्या फिकर कर रही है । सोच तो सही–अब वह तेरा कौन है और तू उसकी क्या है । पूर्व के नाते अब सब झूठ हो चुके हैं ।

मन चाहा यदि तेरा स्वामी तुझे छोड़कर चला गया
तो बेटी ! जाने दे उसको वर ढूढूंगा और नया
आज काल में–जो हो उत्तम नेमी से भी अति गुणवान्
राजपुत्र सुन्दर में सुन्दर हो तेरे जो योग्य महान्
क्यों चिन्ता करती है उसकी जिसने तेरी नहीं करी–
थोड़ी सी भी चिन्ता, बेटी ! दुःखित मत हो घरी घरी

तू है कौन कौन वह तेरा अब संबंध गया है टूट
भूल जाउ नाते पहिले के वे अब हो गये हैं सब झूंठ ।।६७।।

तस्मिन् याते जहिहि हृदयोद्वेगदां शोकमालाम्
स्नाहि, स्वान्तं प्रशमय, नवं धत्स्व वासश्च, भुङ्क्ष्व
संसारेऽस्मिन् भवभवगतः को न कस्य प्रियोऽभूत्
ज्ञात्वा, चित्तं धृतिविगलितं मा कुरुष्वात्मनीनम् ।।६८।।

अन्वय-अर्थ—हे बेटी ! (तस्मिन् याते) नेमी के चले जाने पर तुम (हृदयोद्वेगदां शोकमालां जहिहि) हृदय को अशान्त बनाने वाली शोकमाला को छोडो, (स्वान्तं प्रशमय) मन को शान्ति में लाओ (स्नाहि) नहाओ धोओ (नवं वासः धत्स्व) नवीन वस्त्र पहिनो और (भुङ्क्ष्व) भोजन करो. (अस्मिन् संसारे भवभवगतः कः कस्य प्रियः न अभूत्) यह तो संसार है. भव भव में कौन किसका यहां प्रिय नहीं हुआ (ज्ञात्वा आत्मनीनं चित्तं धृतिविगलितं न कुरुष्व) ऐसा जानकर अपने चित्त को धैर्य से रहित मत करो । इसी की शान्ति में आत्मा का—तुम्हारा-हित समाया हुआ है ।

भावार्थ—बेटी ! यह तो संसार है । हर एक जीव के हर एक जीवके साथ भव २ में नाते होते रहते हैं । कौन किसका प्रिय नहीं बना, कौन किसका शत्रु नहीं बना । अतः धैर्य धरो—नहाओ धोओ और सुन्दर वस्त्र पहिरो और रुचि के अनुकूल खाना पीना करो. चित्त की शान्ति ही सब दुःखों को दूर करने वाली होती है ।

गये हुए स्वामी की बेटी ! अब क्यों चिन्ता करती है
चिन्ता चिता तुल्य है इससे चैन चित्तकी जलती है
छोड़ इसे, यह समझ कि यहाँ पर कौन किसी का नहीं हुआ
भव भव में प्यारा, पर न्यारा हो होकर के विदा हुआ
बीती बातों को न चितारो ये पर्यायों के नाते—
आते जाते रहते हैं, ये क्षणस्थायी, नहिं टिक पाते
सोच समझ कर यों निज मन में चित को म्लान बनाओ ना
रहो पूर्ववत् स्वस्थ नहाओ धोओ खाओ, रोओ ना ।।६८।।

यस्याः सार्धं परिणयविधिः सप्तधासप्तपद्या
संपन्नः स्यात् भवति स वरो नीतिरेषाऽऽगमोक्ता
तेनामा चेत् कतिपयभवोद्भूतपत्नीत्वरागः
पर्यायेऽस्मिन् भवति न सुते ! कार्यकारी स हेयः ॥६६॥

अन्वय-अर्थ—हे बेटी ! (यस्याः सार्धं परिणयविधिः सप्तधासप्तपद्या संपन्नः स्यात्) जिसका जिसके साथ वैवाहिक संबंध सात प्रकार की सप्तपदी के द्वारा संपन्न हो गया होता है (स वरः) वही उसका वर होता है (एषा आगमोक्ता नीतिः) ऐसी यह आगम में नीति कही गयी है, (चेत् तेन अमा कतिपय-भवोद्भूतपत्नीत्वरागः) यदि उसके साथ तेरा पूर्व के कई भवों से चला आ रहा जो पत्नीपने का संबंधरूप राग है (सः अस्मिन् पर्याये सुते ! कार्यकारी न भवति-हेयः) वह इस पर्याय में कार्यकारी नहीं होता है. अतः हे बेटी ! उसे तू छोड दे ।

भावार्थ—बेटी ! नेमी को तू अपना पति क्यों मानकर उनके विरह में दुःखित बन रही है. शास्त्रोक्तविधि के अनुसार जिसके साथ सप्तपदी हो जाती है—सात फेरे पड़ जाते हैं. वही उसका वर होता है-ऐसा तो तेरा कुछ हुआ नहीं है. रही कितनेक पूर्वभवों में उनकी पत्नी होने की बात. सो वह इस भव में कार्यकारी नहीं हो सकती । अतः यह पूर्वभवीय अनुराग तुम छोडो और पूर्व की तरह स्वस्थचित्त होकर घर में रहो ।

पंचों की साक्षी में जिसके सात हुए हों फेरे साथ
धार्मिक विधि से मंडप नीचे जिसने पकडा होवे हाथ
जीवन साथी वही कहाता । वही सुगति पद का भागी
प्राणनाथ होता है वो ही । तद्भव का वो ही रागी
ऐसी आगम की शिक्षा को बेटी ! क्यों तू भूल रही
तो भव के साथी को अपना स्वामी गिन क्यों झूल रही
वर्तमान के इस जीवन में भूतकाल का वह जीवन
भिन्न भिन्न होने के कारण उपादेय होता नहिं वो जन ॥६६॥

जाते ! जातं समुचितमिदं यद्यनूढाऽसि मुक्ता
त्यक्तोढा चेज्जगति जनता भाग्यहीनां वदेत्त्वाम्
श्रुत्वा ते तन्निगदितवचो मानसं वैकृतं स्यात्
दग्धे क्षारप्रपतनवत्तत् हार्दिकं शं न दद्यात् ।।७०।।

अन्वय-अर्थ—(जाते!) हे बेटी (यत् अनूढा मुक्ता असि इदं समुचितं जातम्) जो तुझे नेमि ने बिना विवाही छोड़ दिया है सो यह उन्होंने तेरे हित में बहुत उचित—अच्छा किया है (चेत् ऊढा त्यक्ता) यदि वे विवाह करके तुझे छोड़ देते तो (जगति जनता त्वां भाग्यहीनां वदेत्) संसार में जनता तुझे भाग्यहीन-अभागिनी कहती और (तन्निगदितवचः श्रुत्वा ते मानसं वैकृतं स्यात्) उसके कहे हुए उन वचनों को सुनकर तेरा मन अत्यन्त विकृति युक्त हो जाता और (दग्धे क्षारप्रपतनवत् तत् हार्दिकं शं न दद्यात्) जले पर नमक छिड़कने के समान वे वचन तुझे हार्दिक शांति नहीं देते ।

भावार्थ—नेमि यदि तुझे बिना विवाही छोड़ करके चले गये हैं तो उन्होंने तेरे साथ भलाई ही की है. यदि वे विवाह करके तुझे छोड़ देते तो जगत तुझे अभागिनी कहता और इससे तेरा दुःख जले पर नमक छिड़कने के समान द्विगुणित बनकर एक पल भी तुझे शान्ति नहीं लेने देता ।

बिना विवाही छोड़ तुझे जो नेमि द्वार से लौट गये
अनुचित हुआ बना क्या, तुझको उचित राह पर लगा गये
वैवाहिक संबंध जोड़कर जो तुझ को वे तज देते
तो अभागिनी की उपाधि से तुझे सभी कोसा करते
उनके ताने सुन सुन करके तेरा मन दुःखित होता
जले हुए पर नमक छिड़कने के सम दूना दुख बोता ।।७०।।

वाग्दानान्नो भवति रमणः कोऽपि कस्याश्च बाले !
एतज्ज्ञात्वा मनसि न कदा शोकवार्ता तदीया ।
आनेतव्या, यदि स गतवान् गच्छतु वा यथेच्छम्
तस्मै मुक्त्वा परिणयविधिं गच्छते का स्पृहा ते ।।७१।।

अन्वय अर्थ—(बाले) हे बेटी ! (वाग्दानात् कः अपि कस्याः रमणः न भवति) केवल सगाई हो जाने मात्र से कोई किसी का वर-पति नहीं बन जाता है (एतत् ज्ञात्वा तदीया शोकवार्ता मनसि कदा न आनेतव्या) यह समझ कर नेमि संबंधी शोक की बातें अब तुझे अपने मन में कभी नहीं लानी चाहिये। (यदि स गतवान्) यदि वह चला गया है तो (यथेच्छम् गच्छतु) भले वह चला जावे (उसे रोकता भी कौन है) (परिणय विधिं मध्ये मुक्त्वा) अरे भला जो व्यक्ति तुझे भर विवाह में बीच में ही छोड़कर चला गया है (गच्छते तस्मै) उस जाने वाले की तुझे क्या चाहना करनी ?

भावार्थ—बेटी ! सगाई हो जाने मात्र से पति-पत्नी भाव नहीं होता है ऐसा जानकर तुझे नेमि के छोड़ जाने का जरा सा भी शोक नहीं करना चाहिये। यदि वह चला गया है तो भले चला जावे: उसे रोकता भी अब कौन है। अरे भला, जो परिणयविधि को बीच में ही छोडकर चला गया है उस जाने वाले की अब तुझे क्या चाहना करनी चाहिये ?

नहिं सगाई हो जाने से ही कोई भर्ता बन जाता
सप्तपदी हो जाने पर पति-पत्नी भाव उभर आता
ऐसा सोच समझ कर बेटी ; उसका शोक न अब कर तू
चला गया वह तुझे छोड़कर तो जाने दे रोक न तू
जो विवाह को छोड़ गया हो उसकी क्या इच्छा करना
अस्थिर चित्त मनुज का बेटी ! नहिं विश्वास कभी करना ।।७१

कोऽहं केयं हृदि न गणितं येन किञ्चित् कथंचित्
का मे जातिः कुलमपि च किं मे सांप्रतं किं करोमि
किं कर्तव्यं भवति च मया वाऽधुना नैव बुद्धं
तस्मै मुक्त्वा परिणयविधिं गच्छते का स्पृहा ते ।।७२।।

अन्वय अर्थ—(अहं कः इयं का येन किञ्चित् कथंचित् न गणितम्) मैं कौन हूं यह कौन है, ऐसा जिसने कुछ भी किसी भी तरह से विचार नहीं किया और (मे का जातिः किं मे कुलं साम्प्रतं किं करोमि, मया अधुनाकर्तव्यं किं भवति नैव

बुद्धम्) मेरी क्या जाति है? मेरा कुल क्या है? अबमैं क्या कर रहा हूं और मुझे क्या करना चाहिये था। ऐसा जिसने ख्याल नहीं किया. हे बेटी! (परिणयविधि मुक्त्वा गच्छते तस्मै का स्पृहा) वैवाहिक विधि को छोड़कर जाने वाले उस नेमि की तू क्या चाहना करती है।

भावार्थ—हे बेटी! मै कौन हूं, यह कौन है, मेरी जानि क्या है, क्या मेरा कुल है, मुझे क्या करना चाहिये था और अब मैं क्या कर रहा हूं, ऐसा जिसने थोडा सा भी विचार नहीं किया और बीच में ही वैवाहिक विधि का परित्याग करके जो चला गया है उसे उस नेमि के पीछे तू क्यों दुःखित हो रही है।

मैं हूं कौन कौन यह नारी कुल क्या, क्या मेरी जाति
नही समझ में आयी जिसकी समझाने पर हर भांति
क्या करने के योग्य मुझे था और कर रहा अब मैं क्या
ऐसा भी तो ख्याल किया नहिं जिसने अब बतलाऊं क्या
जो विवाह को छोड गया हो उसकी क्या इच्छा करना
अस्थिर चित्त हुए प्राणी का नहिं विश्वास कभी करना ।।७२।।

अप्रायोग्यं यदपि च सुते! कार्यमेतद्बभूव
आशंसार्हं नहि समभवद्वेद्मि सम्यक् तथापि।
वक्तव्यार्हा जगति न च ते सन्ति ये-शक्तिमन्तः
कुर्वन्तस्तेऽकुशलमपि नो सन्त्युपालम्भनीयाः ।।७३।।

अन्वय-अर्थ—(सुते) हे बेटी (सम्यक् वेद्मि) मै अच्छी तरह जानता हूं कि (एतत् कार्यं अप्रायोग्यं बभूव) यह तेरा परिहार रूप कार्य अपने खान्दान के योग्य नहीं हुआ है। इसीलिये (आशंसार्हं न हि समभवत्) वह प्रशंसनीय नहीं है (तथापि) तब भी (जगति ये शक्तिमन्तः सन्ति) संसार में जो शक्तिशाली होते हैं (ते वक्तव्यार्हाः न) उनसे कोई कुछ नहीं कह सकता (ते अकुशलमपि कुर्वन्तः उपालम्भनीया न सन्ति) चाहे वे अकुशल भी कार्य करें तब भी उन्हें कोई उलाहना तक भी नहीं दे सकता।

भावार्थ—बेटी! "समरथ को नहि दोष गुसाई" इस नीति के अनुसार जो शक्तिशाली होते हैं वे अनुचित कार्य भी करें तो भी उनसे कोई कुछ नहीं कह

सकता। यद्यपि मैं यह जानता हूं कि नेमी ने जो यह कार्य किया है वह उन्होंने अयोग्य किया है, किसी ने भी इसको अच्छा नहीं कहा, परन्तु विशिष्टशक्तिसंपन्न होने से फिर भी उनके इस कार्य का किसी ने भी विरोध तक भी नहीं किया।

नेमीश्वर ने अनुचित किया कार्य यह मानता हूं
अनुमोदित भी वह नहिं किसी ने किया जानता हूं
पर जो होते जगतभर में पुण्य औ शक्तिशाली
सेवा में भी अमर जिनकी हों खड़े बन पुजारी
ऐसे मानव उचित अनुचित जो करें सर्व थोड़ा
देकर ठपका स्वयं पग पर कौन मारे हथौड़ा ॥७३॥

आर्यैर्यन्नश्चरितमिह नो सेवितं तत्त्वया किम्
सेवित्वा हा ! यशसि विमले संभृतं दुर्बलत्वम्
मुञ्चैनत्त्वं यदुकुलमणे ! वाच्यताऽऽधायि वृत्तम्
ब्रूयादित्थं न खलु नगरे विद्यते कोऽपि वीरः ॥७४॥

अन्वय-अर्थ—हे बेटी ! (नः आर्यैः) हम लोगों के आर्य पुरुषों ने (इह) इस समय में यहां (यच्चरितं नो सेवितम्) जिस आचरण का सेवन नहीं किया (हा) अफसोस है कि (तत् त्वया सेवित्वा विमले यशसि दुर्बलत्वं किं संभृतम्) उस आचरण का सेवन करके आपने अपने यश में दुर्बलता-कृशता-क्यों भरली है। अतः (यदुकुल-मणे) हे यदुकुल के मणिस्वरूप ! (त्वम्) आप (वाच्यता आधायि एतत् वृत्तं मुञ्च) निन्दा कराने वाले इस आचरण का परित्याग कर दें। (इत्थं ब्रूयात्) ऐसी नेमी से कहे ऐसा (वीरः) वीर (नगरे) इस नगर में (कोऽपि न विद्यते) कोई भी नहीं है।

भावार्थ—हे बेटी नेमी के निकट जाकर उनसे ऐसा कहने वाला वीर इस नगर में कोई नहीं दिखता—कि-हम लोगों के बुजुर्गों ने जिस आचरण को अपने जीवन में नहीं उतारा उसे आपने क्यों उतारा है. क्योंकि इस प्रकार के आचरित हुए व्यवहार ने आपके यश को कृश कर दिया है. अतः जिससे आप की निन्दा हो रही हो उस कृत्य को आप छोड़ दें।

नाथ ! आपके आर्यजनों ने जिसे कभी नहिं अपनाया
वर्तमान में उसे आपने अपना कर क्यों कलपाया—

राजुल को—इससे तव यश में दुर्बलता ही आयी है
अतः छोड़ दें आप इसे इससे निन्दा ही पायी है
ऐसा कहने वाला बेटी ! नहीं कोइ अब दिखता है—
वीर-नगर में हरजन उनसे कहने में भय तकता है ।।७४।।

संस्कारस्ते परिणयकृतो तेन सार्धं न कश्चित्
जातः, कस्माद्गतिवति सुते ! शोकमग्नाऽसि तस्मिन्
रागः स्यात्त्वां प्रति यदि कथं स त्यजेत्त्वामकस्मात्
तस्मात्तस्मिंस्त्वमपि सुभगे ! रागभावं जहीहि ।।७५।।

अन्वय-अर्थ—(सुते तेन सार्धं परिणयकृतः ते कश्चित्संस्कारः न जातः) हे बेटी ! तेरा उसके साथ वैवाहिक कोई दस्तूर नहीं हुआ है तो (कस्मात् गतिवति तस्मिन् शोकमग्ना असि) गये हुए उसके सम्बन्ध में फिर शोकमग्न क्यों हो रही है ? (यदि त्वां प्रति रागः स्यात्) यदि तेरे प्रति उसका अनुराग होता तो (स त्वाम् अकस्मात् कथं त्यजेत्) वह तुझे बिना कारण के क्यों छोडता ? (तस्मात्) इसलिये (सुभगे) हे सुभगे ! (तस्मिन् त्वम् अपि रागभावं जहीहि) उसके ऊपर से तू भी अपना राग-भाग दूर कर दे ।

भावार्थ—"जो आपको न चाहे ताके बाप को न चाहिये" इस नीति के अनुसार जब वह तुझे चाहता ही नहीं है तो तू उसके प्रति रागभाव क्यों रख रही है. छोड इस रागभाव को, यह है कौन तेरा, तेरा उसका कोई वैवाहिक संस्कार तो हुआ नही है फिर क्यों उसे अपना मान रही है और उसके चले जाने पर शोकाकुलित हो रही है ।

तेरा उसका नहीं हुआ है वैवाहिक विधि के अनुसार
संस्कार भी तो कोई, फिर अब क्यों होती हैं गम स्वार
वह था तेरा कौन उसे तू अपना क्यों कर मान रही
अपना होता तो अपनाता और बताता हाल सही
उसके जाने पर क्यों होती शोकमग्न तू घरी घरी
दूर भगा इस रागभाव को बात यही है खरी खरी
अनचाहे पर राग न चढता चढता ऐसा क्यों होता

होता वही जो होना है अनहोना पुत्रि ! नहिं होता
ऐसा जान भूल जा उसको जैसा वह तुझ को भूला
यों होगा तो सदा रहेगा चित तेरा फूला-फूला ॥७५॥

श्रुत्वोक्तिं साऽवनतवदनोवाच वाचं शृणुष्व
नेमिं मुक्त्वाऽमरपतिनिभं नैव वाञ्छामि कान्तम्
चिन्ता कार्या न मम भवता नेमिनाऽहं समूढा
जातो वासौ मनसि च मया संवृतो भर्तृभावात् ॥७६॥

अन्वय-अर्थ—(उक्तिं श्रुत्वा) पिता की बात सुनकर (अवनतवदना सा उवाच) नीचा मुँह करके वह कहने लगी (वाचं शृणुष्व) पिता जी ! मेरी बात आप सुनो (नेमिं मुक्त्वा अमरपतिनिभं कान्तं नैव वाञ्छामि) मै नेमी के सिवाय अमरपति–इन्द्र–तुल्य भी व्यक्ति को अपना पति बनाना नहीं चाहती हूं। (भवता मम चिन्ता न कार्या) आप मेरी चिन्ता न करें (अहं नेमिना समूढा) मुझे नेमी ने वरण कर लिया है और (असौ भर्तृभावात् मनसि मया संवृतः जातः) मैंने भी उन्हें पतिरूप से अपने मन में वरण कर लिया है ।

भावार्थ—पिताश्री की बात सुककर लजाते हुए राजुल ने प्रत्युत्तर के रूप में उनसे कहा—पिता जी ! आप मेरी ओर से निश्चिन्त रहें मैं नेमी की हो चुकी हूं और नेमी मेरे हो चुके हैं। अब इन्द्रतुल्य भी मानव मेरे हृदयासन पर विराजमान नहीं हो सकता है ।

मै अनाथ हूं नहिं, सनाथ हूं, साथ नाथ ने नहीं दिया
मुक्ति-रमा ने जादू करके मुझ से उनको छुड़ा लिया
तात ! आप मत चिन्ता मेरी करो न मुझको समझाओ
नाथ हृदय में बैठा मेरे मुझको अब मत भरमाओ
वे हैं मेरे मैं हूं उनकी भले मुक्ति के चक्कर में
फँस गये हैं वे पुनः मिलेंगे मुझे मुक्ति के ही घर में
हम दोनों तब वहां रमेंगे अव्याबाधसुखोदधि में
नहिं अवतार हमारा होगा इस निस्सार भवोदधि में
तातवचन सुनकर राजुल ने अपना ऐसा हार्दिक भाव
कहा तात से, और कहा फिर नव-विवाह का रहा न चाव ॥७६॥

कल्ये दीक्षामहमपि च पितः ! धारयिष्यामि नूनम्
आज्ञां दत्त्वा सफलय मनोभावमेवं विदित्वा
कार्या कार्ये पितृपदसमाध्यासिना नात्र बाधा
शोकं मोहं विगलय न मे, कोऽपि कस्यापि नाहम् ।।७७।।

अन्वय-अर्थ—(पितः) हे तात ! (नूनं अहम् अपि कल्ये दीक्षां धारयिष्यामि) निश्चित रूप से मैं भी कल दीक्षा धारण करूंगी (एवं विदित्वा आज्ञां दत्वा मनो भावं सफलय) इस मेरे निश्चय को जानकर आप आज्ञा प्रदान करके मेरे मानसिक विचार को सफलित करें । (पितृपदाध्यासिना अस्मिन् कार्ये बाधा न कार्या) पिता के पद पर विराजमान हुए आपको मेरे इस कार्य में बाधा नही डालना चाहिये (शोकं मोहं विगलय) आप शोक एवं मोह को दूर कीजिये (मे कोऽपि न अहं कस्यापि न) अब मेरा कोई भी नहीं है और मैं भी किसी की नहीं हुं ।

भावार्थ—पिता जी मैं नियम से दीक्षा लूंगी. आप मुझे सहर्ष आज्ञा दे, और मेरे निश्चय को सफल करें. आप मेरे पिता हैं. इस नाते आप को मेरा मोह छोड़कर इस कार्य में रुकावट नहीं करनी चाहिये. अब इस भव में न कोई मेरा है और न मैं किसी की हूं ।

कल प्रातः मैं अब नियम से तात ! दीक्षा धरूंगी
घर छोड़ूंगी स्वजन परजन को सभी को तजूंगी
ममता मेरी अब सब तजो और आज्ञा मुझे दो
धर्माराधन कर सफल हो जन्म मेरा तिया का
मेरे मन के उदित भावों को घटाओ न रोको
है पालन के रतनत्रय के योग्य यह तात ! मौका
स्वामी के ही चरण पथ पै मैं चलूंगी खुशी से
आवेंगे जो विविध दुःख भी तो उन्हें मैं सहूंगी
होऊंगी ना विचलित कभी स्वीयकर्तव्य से मैं
आयेंगी ना सुखद घर की याद रातें न बातें
होंगे मेरे वनभवन में संगसाथी मृगादि
छोड़ो मेरी जनक ! ममता आप रोको न रोओ ।।७७।।

नारीजन्माधममिदमहं मंगलं संविधास्ये,
नारीलिङ्गं विविधतपसा कर्मणामावलिं च ।
छित्वा भित्वा विगलितभवाऽहं भविष्यामि तात !
श्रेयःकार्ये निजहितविदो नैव तन्वन्ति विघ्नम् ।।७८।।

अन्वय-अर्थ—(तात) पिताजी (अधमम् इदं नारीजन्म अहं मंगलं संविधास्ये) अधम इस नारीजन्म को मैं मंगल रूप बनाऊँगी और (विविधतपसा) अनेक तपस्याओं से (नारीलिङ्गं, कर्मणाम् आवलिं च छित्वा भित्वा) नारी लिङ्ग को और कर्मों को छेद भेद करके (विगलितभवा अहं भविष्यामि) अपने संसार को मैं नष्ट करूँगी. अतः (निजहितविदः श्रेयःकार्ये विघ्नं न तन्वन्ति) जो अपने हित को जानते हैं वे मांगलिक कार्यों में विघ्न नहीं करते हैं ।

भावार्थ—हे जनक ! मै इस अधम स्त्री पर्याय को मंगलमय बनाऊंगी और नारीलिङ्ग को एवं कर्मों को अनेक प्रकार के तपों का आचरण करके नष्ट भ्रष्ट करूंगी. ताकि इस संसार में मुझे फिर से भ्रमण नहीं करना पड़े, जो अपना हित–कल्याण–करना जानते हैं. वे मांगलिक कार्यों में रुकावट पसन्द नहीं करते हैं ।

नारी का यह जन्म अधम है, पराधीन है, दुखकर है,
पद पद पर अपमानित होकर जीवन जीने का घर है
मात-तात की चिन्ता का यह बड़ा विकट विषम स्थल है
क्षण क्षण में शंकाओं का यह बनता शीघ्र बवन्डर है
पर की है यह एक धरोहर जिसे रखाते रहते हैं
समय समय पर घर भर के जन जिसे संभाले रहते है
जिससे परिचय नहीं, प्रीति नहिं, रीति न जिसकी ज्ञात सही
प्रकृति, स्वभाव, अपरिचित जिसका उसे सौंप दी जात कहीं
ऐसे इस नारी जीवन को तात ! करूंगी मैं अब तो
मंगलमय, एवं तप द्वारा भस्म करूंगी विधिवन को
नारीलिङ्ग छेद करके मैं अजर अमर पद पाऊंगी
धीरे धीरे नेमिपिया से मुक्तिमांहि मिल जाऊंगी ।।७८।।

मत्सौभाग्यं विरहदहने तात ! दग्धं सपत्न्या
मुक्त्याऽभुक्तं विगलितमिदं नैव वाञ्छामि भूयः
त्यक्ता तेनाहमपि च तथा तं त्यजामि त्रिधैव
क्षन्तव्येयं यदिह समभूत् तेऽपराधः प्रमादात् ।।७६।।

अन्वय अर्थ—(तात) हे पिता ! (अमुक्तम्) इस पर्याय में अभुक्त हुए (मत्सौभाग्यं) मेरे सौभाग्य को (सपत्न्या मुक्त्या) मेरी सौत मुक्ति ने (विरहदहने दग्धम्) विरहरूपी अग्नि में भस्म कर दिया है. अतः (विगलितं इदं भूयः नैव वाञ्छामि) मुझ से छूटे हुए इस सौभाग्य को मैं पुनः नहीं चाहती हूं (तेन त्यक्ता अहमपि च त्रिधा तथा एव तं त्यजामि) अतः उनके द्वारा छोडी गई मैं भी मन वचन और काय से उसी प्रकार उन्हें छोडती हूं । (यदिह) यदि इस पर्याय में मेरे द्वारा (प्रमादात्) असावधानीवश (ते अपराधः समभूत्) आपका अपराध बन गया हो (इयंक्षन्तव्या) तो मुझे क्षमा करना ।

भावार्थ—पिताजी ! मेरा सौभाग्य तो मुक्तिलक्ष्मी को मिल चुका है, अतः अब मै उस सौभाग्य की आकांक्षिणी नहीं हूं । मुझे जिस प्रकार मेरे होने वाले नाथ ने छोड़ दी है मैं भी अब उसी प्रकार से मन वचन और काय से उनका परित्याग कर देती हूं । आपका इस दशा में वर्तमान मेरे द्वारा किसी भी तरह का असावधानीवश कोई अपराध बन गया हो तो मै उसकी क्षमा चाहती हूं ।

मेरे सुख सुहाग को मुझ से मुक्तिसौत ने छीन लिया
पति को अपनी ओर खेंचकर मुझ को विरहिन बना दिया
झोंक दिया मेरे सुहाग को पतिविरहानलज्वाला में
कौन कहेगा मुझे सुहागिन बनी अभागिन बाला मैं
इन अभुक्त अब भोगों को मेरी न भोगने की इच्छा
इच्छा है तो एक यही है धरूं आर्यिका की दीक्षा
छोडी जैसी उनने मुझको मै भी उन्हें छोडती हूं
पर्यायाश्रित सब नातों को तात ! आज से तोडती हूं
जो असावधानी वश मुझ से अब तक हुईं गल्तियां हों
उन्हें क्षमाकर देना मांगू हाथ जोडकर भिक्षा यों ।।७६।।

मोहोद्भूतं परिहर पितः ! मद्गतं प्रीतिजालम्
याचेऽहं त्वां पुनरपि पुन र्मे क्षमस्वापराधम्
सेवा ते वा जनक ! मयकाऽभून्न मे दुःखमस्ति
मद्दीक्षातः सफलमभवत् ते गृहस्थाश्रमोऽयम् ॥८०॥

अन्वय-अर्थ—(पितः) हे तात ! (मोहोद्भूतं मद्गतं प्रीतिजालं परिहर) मोह से उत्पन्न जो मेरे ऊपर आपका प्रीतिजाल है उसे आप अब दूर कर दें। (अहं पुनः पुनः त्वां याचे) मै बार २ आपसे यही याचना करती हूं। (मे अपराधं क्षमस्व) आप मेरी गल्तियों की मुझे क्षमा दें। (जनक) हे जनक (ते सेवा मयका न अभूत्) आपकी सेवा कुछ भी मुझ से नहीं हो सकी (मे दुःखं अस्ति) इसका मुझे स्वयं को दुःख है। (मद्दीक्षातः अयं ते गृहस्थाश्रमः सफलं अभवत्) मेरी दीक्षा से आपका यह गृहस्थाश्रम सफल हो गया है ।

भावार्थ—हे तात ! अब आप मेरे प्रति रहे हुए अनुराग का परित्याग कर दें. क्योंकि मैं दीक्षित होने वाली हूं । मैं हुए अपराधों की पुनः पुनः आपसे क्षमा चाहती हूं। मुझे एक बात का अवश्य दुःख है कि मेरे द्वारा आपकी जरा सी भी सेवा नहीं हुई। परन्तु इस बात की खुशी है कि मेरी दीक्षा से आपका गृहस्थाश्रम सफल हो गया।

मुझे परम सौभाग्य उदय से राजमहल में जन्म मिला।
पुत्री बनी आपकी ही मैं अनुपम मुझे दुलार मिला
पाल पोष कर मुझे आपने सब प्रकार से बड़ा किया
देवों को भी दुर्लभ ऐसे सुख साधन से तुष्ट किया
समय समय पर सभी तरह से मेरा योगक्षेम हुआ
सूर्य उदय कब हुआ, हुआ कब अस्त, न इसका भान हुआ
पिता ! आपके ही प्रभाव से मैं इस लायक हो पायी
हेयाहेयविवेचक प्रज्ञा जगी नेमि लख ठकुराई
इतना है उपकार आपका तात ! बड़ा भारी मुझ पर
उससे उऋण न हो पायी मैं दुःख इसी का मन ऊपर
पर मेरी दीक्षा से सफलित हुआ गृहस्थाश्रम पावन
तात ! आपका, अतः दीजिये दीक्षा की आज्ञा पावन ॥८०॥

मोहोद्भूतां पुनरपि कथां कथ्यमानां व्यथायाः
श्रुत्वा राजीमतिरपि तथा तां निरस्यैवमूचे
सर्वे ह्येते जनक ! बहुशो जीवसंबंधबंधाः
जाताः पूर्वं भवति नितरां तत्र मग्नो विमुग्धः ।।८१।।

अन्वय-अर्थ—राजुल के चेतावनी भरे वचनों को सुनकर उसके पिता उग्रसेन नरेश को बहुत वेदना हुई और उन्होंने उस अपनी वेदना को राजुल के मन को परिवर्तित करने के लिये कहा—तब—(मोहोद्भूतां व्यथायाः कथ्यमानां कथां श्रुत्वा) मोहजन्य अपनी कही गई व्यथा की कथा को सुन करके (राजीमतिः अपि) राजुल ने भी (तथा तां निरस्य एवं ऊचे) उसी प्रकार से उसका निराकरण करके इस प्रकार से कहा (जनक) हे तात ! (एते सर्वे जीवसंबंधबंधाः पूर्वं बहुशः जाताः) ये समस्त जीव के साथ हुए संबंधरूप बंधन पहिले कई बार हो चुके हैं (तत्र विमुग्धः मग्नो भवति) उनमें जो मोही प्राणी होता है वही मग्न होता है ।

भावार्थ—"किस किस को याद कीजिये किस किस को रोइये, ये सब अथिर जगजाल है निज हित को सोचिये" इसी नीति के अनुसार राजुल ने जब पिता द्वारा प्रकट की गई मोहजन्य व्यथा की कथा को सुना तो उसने पिता को संबोधित किया और कहा—पिताजी आप किस मोहममता के जाल में फँसे हुए हैं. ये सब सम्बन्ध तो अनादिकाल से होते चले आ रहे हैं. ये स्थिर नहीं हैं. सबः अस्थिर हैं. ज्ञानी जन इनमें मग्न नहीं होते हैं. मग्न तो मोहीजन ही होते हैं । अत अब मुझ से आप मोह को दूर कर दो ।

राजुल की सुनकर कथा उग्रसेन भूपाल
"बेटी दीक्षा का नहीं है यह तेरा काल"
मोहजन्य मन की व्यथा प्रकट करी तत्काल
तेरे बिन मेरा सुते ! होवेगा क्या हाल
मोह भरे अरु व्यथा से सने सुने उद्गार
राजुल ने जब जनक के, बोली समता धार
ये जग के नाते अथिर हुए अनंती बार
थिर इनमें कोई नहीं रहा यही संसार
यह दुर्गम घाटी बड़ी, ज्ञान, विवेक, विचार
ये ही साधन जीवको करते उससे पार ।।८१।।

आज्ञां लब्ध्वा प्रमुदितमना मातृपादारविन्दं
नत्वा साध्वीनिकटमगमन्मोहजालं विमुच्य
आर्यादीक्षां स्वकुशलमयीं प्राप्य सत्या तयाऽथ
गत्वा नुत्वा गतभवपति र्नेमिनाथो ववन्दे ।।८२।।

अन्वय-अर्थ—(आज्ञां लब्ध्वा) पिता की आज्ञा पाकर राजुल (प्रमुदितमना:) बहुत प्रसन्न चित्त हुई (मातृपादारविन्दं नत्वा) और माता के चरण कमलों को नमन करके एवं (मोहजालं विमुच्य) मोहजाल को छोड़ करके वह (साध्वीनिकटं अगमत्) आर्यिका माता के पास गई. वहां उसने(स्वकुशलमयीं आर्यादीक्षां प्राप्य)अपनी कुशलता कारक आर्यिका की दीक्षा धारण करली(अथ) इसके बाद (तया सत्या) उस सती ने (गत्वा नुत्वा) जाकर के और स्तुति करके (गतभवपति:) पूर्वभवों के पतिदेव (नेमिनाथ:) नेमिनाथ की (ववन्दे) वन्दना की ।

भावार्थ—पिता की आज्ञा प्राप्त कर प्रसन्न चित्त हुई राजुल ने माता की भी आज्ञा प्राप्त की और उन्हें प्रणाम करके फिर वह सब में मोहपरिणति हटाकर एक साध्वी माता के निकट पहुंची वहां पहुंच कर अपने भव को सुधारने वाली आर्यिका दीक्षा धारण करली और अन्त में उसने नेमिनाथ की स्तुतिपूर्वक वन्दना की ।

मात तात की आज्ञा पाकर राजुल मन में मुदित हुई
जाते समय मातृपदपंकज की रज से धूसरित हुई
मोहजाल को वमनतुल्य तज पहुंची वह साध्वी के पास
भवभव कुशल विधायक दीक्षा धरी आर्यिका की सोल्लास
दीक्षित होकर फिर वह साध्वी नेमिनाथ के निकट गयी
कर संस्तवन नमन कर शत शत उनको फिर वह तृप्त भयी ।।८२।।

धन्या माताऽवनिरतिरसावुग्रसेनोऽपि धन्य:
प्राचीदिग्वज्जगति महिता सा शिवा धन्यधन्या
धन्यस्तातो नरपतिमणि: सस्समुद्राभिधान:
धन्या राजीमतिरपि तथाऽभाविनी धर्मपत्नी ।।८३।।

अन्वय-अर्थ—(माता धन्या) राजुल की माता धन्य है (असौ उग्रसेनः अवनिपतिः अपि धन्यः) उग्रसेन भूपाल भी धन्य है. जो (जगति प्राचीदिग्वत् महिता) संसार में पूर्व दिशा की तरह पूज्य हुई ऐसी (सा शिवा धन्यधन्या) वह नेमिनाथ की माता शिवा देवी अत्यन्त धन्य है (सः नरपतिमरिणः समुद्राभिधानः तातः धन्यः) वे नरपतिमूर्धन्य समुद्रविजय पिता भी धन्य हैं (तथा अभाविनी धर्मपत्नी) तथा जिसे अब धर्मपत्नी का पद प्राप्त ही नहीं होना है ऐसी (राजीमतिः अपि) राजुल भी (धन्या) धन्य है।

भावार्थ—स्पष्ट है।

माता धन्या, अवनिपति वे धन्य हैं उग्रसेन
प्राचीदिग्वत् जगतभर में जो हुई पूज्यपूज्या
ऐसी माता वह सति शिवा धन्य है, धन्य तात—
वे नेमी के समुर्दविजय श्रीमती राजपुत्री
धन्या है वो रजमति सती, जो न होगी किसी की—
आगे पत्नी—इन सबन को है नमस्कार मेरा ॥८३॥

राजीमत्या विरहसमये तत्सखी-तातपादै
र्नेम्यभ्यर्णे वचनमखिलं प्रोक्तमादाय दृब्धम्
एतत्काव्यं कविकुलमणेः कालिदासस्य काव्यात्
पादं चान्त्यं समुचितपदान्मेघदूताद्गृहीत्वा ॥८४॥

अन्वय-अर्थ—(राजीमत्या च तत्सखी-तातपादैः विरहसमये) राजुल ने और उसकी सखियों ने एवं उसके पिता ने विरह के समय (नेम्यभ्यर्णे) नेमि के निकट (प्रोक्तं अखिलं वचनं आदाय) जो वचन कहे उन सबको लेकर के मैंने (एतत् काव्यं दृब्धम्) इस काव्य की रचना की है. इसमें (कविकुलमणेः कालिदासस्य समुचितपदात्) कविकुलमणि कालिदास के समुचित पदवाले (मेघदूतात् काव्यात्) मेघदूत काव्य से (अन्त्यं पादं) अन्तिम पाद को (गृहीत्वा) ग्रहण करके इस काव्य का निर्माण किया है।

भावार्थ—नेमिनाथ जब राजुल का भर विवाह में परित्याग कर गिरनार पर्वत पर दिगम्बर मुद्रा में विराजमान हो गये उस समय राजसुता राजमति की सब

आशाओं पर पानी फिर गया. वह उनके पीछे २ गिरती पडती गिरनार पर पहुंची उनके निकट अपनी हार्दिक व्यथा जिस रूप में उसने प्रकट की वह "पूर्व वचनदूत" में अङ्कित की गई है । इस "उत्तर वचनदूत" में नेमि के निकट राजुल की सखियों ने और उसके जनक ने जो कुछ कहा वह अङ्कित किया गया है । कवि कुलश्रेष्ठ कालिदास ने जो मेघदूत की रचना की है, उसके अन्तिम पाद को लेकर उसे इस वचनदूत की कथावस्तु के साथ जोडा गया है ।

राजुल ने उसकी सखियों ने और पिताश्री ने उसके
गिरि पर जाकर नेमिनाथ से कहे भाव जो वे मन के
साहित्यिक भाषा में उनको सजा-सजाकर यहां किया
अङ्कित, कल्पित हुए उन्हों को "वचनदूत" यह नाम दिया
कालिदास के मेघदूत से अन्त्यपाद को लेकर के
करी समस्या पूर्ति यथामति मैंने "वचनदूत" रच के ।।८४।।

धन्यास्ते गुरवः पान्तु येषां सत्कृपया मया ।
लब्धबोधेन संदृब्धं नव्यं काव्यमिदं मुदा ।।१।।

अम्बादिदासान्तपदोपगूढान् विद्यागरून् नौमि भृशं सुभक्त्या ।
येषां पवित्रांश्चरणारविन्दान् संसेव्य मे धी रभवत् पवित्रा ।।२।।

शुष्कघासनिभं शास्त्रं तर्काख्यं परिशीलितम्,
मद् गवाक्षीरवच्चैतत्काव्यं नव्यं तयोद्‌गतम् ।।३।।

काव्यनिर्माणकर्तृत्वं केवलं मयि युज्यते
सगुणं निर्गुणं वैतत् विद्वद्भिः परीक्ष्यताम् ।।४।।

साध्वी प्रकृत्या मनवाभिधाना पत्नी मदीयाऽस्ति मनोऽनुकूला ।
शुश्रूषया तत्कृतयैव सम्यग्वद्धोऽप्यहं काव्यमिदं चकार ।।५।।

धन्यवादाञ्जलिं चास्यै तद्गुणाकृष्टमानसः ।
तदुपकारशुद्ध्यर्थं प्रयच्छामि पुनः पुनः ।।६।।

ईदृशी गृहिणी भूयात् सर्वेषां सद्गृहाश्रमे ।
यद्धर्मसेवनात्स्वर्गः गृहे चापि विजृम्भते ।।७।।

भावार्थ---जिनके परम अनुग्रह से ज्ञान प्राप्त करके मैंने इस नवीन काव्य की रचना की है ऐसे वे गुरुजन मेरी सदा रक्षा करते रहें ।।१।। जिसके पवित्र चरणारविन्दों की सेवा करके मेरी बुद्धि पवित्र हुई है ऐसे उन विद्यागुरु "श्री अम्बादास जी" को मैं भक्तिपूर्वक बार बार प्रणाम करता हूं ।।२।। मेरी गौ ने (वाणी एवं बुद्धि ने) शुष्कघास के जैसे तर्क शास्त्र का परिशीलन किया है सो उससे दुग्ध के जैसा यह नवीन काव्य निःसृत हुआ है ।। ३।। काव्य का निर्माण कर्तृत्व तो मुझ में आता है पर यह सगुण है कि निर्गुण है इसकी परीक्षा विद्वानों के हाथ में है ।।४। प्रकृति से साध्वी मेरी धर्मपत्नी "मनवा" ने मुझे इस वृद्धावस्था में भी मेरी अच्छी तरह सेवा करके इस काव्य के निर्माण के लायक बल प्रदान किया ।।५।। अतः मैं उनके इस सद्गुण से आकृष्ट होकर उसे बार २ धन्यवाद देता हूं ।।६।। ऐसी गृहिणी सब के घर में होवे कि–जिसके धर्म सेवन के प्रभाव से प्रत्येक गृहस्थ के घर में भी स्वर्गीय आनन्द बरसता रहता है ।।७।।

कर्तुः प्रशस्तिः—

सप्ततिवर्षायुषि मे चिकीर्षया प्रेरितस्य शेमुष्या
विहिते स्मिन् खलु काव्ये भवेत्त्रुटिः कापि संशोध्या ।।१।।

राजस्थानप्रान्ते वसता क्षेत्रे मया महावीरे ।
पाण्डित्यपदे, नव्यं काव्यं दृब्धं स्वरुच्यैतत् ।।२।।

दिगम्बरक्षेत्रमिदं प्रसिद्धं पुरातनं सातिशयं समृद्धम् ।
देशान्तरायातविशिष्टविज्ञैः भक्त्यान्वितैः श्राद्धचयैश्च सेव्यम् ।। ३ ।।

गंभीरासरितस्तटस्थितमिदं क्षेत्रं महाविस्तृतम् ।
श्रीदैगम्बर मूलनायकमहावीराख्यया विश्रुतम् ।
भूगर्भोत्थितवीरबिम्बललितं लालित्यतोऽनूपमम् ।
अस्योत्कर्षमवेक्ष्य दानसलिलं शश्वत्स्वयं वर्षति ।। ४ ।।

दिगम्बराम्नायत एव सर्वं पूजाप्रतिष्ठादि च धर्म्यकृत्यम् ।
संपद्यते—लोकजनोपकारि क्षेत्रं प्रसिद्धं जगतीतलेऽस्मिन् ।। ५ ।।

दिगम्बराचार्यमुनीन्द्रचन्द्रश्रीकुन्दकुन्दानुमतानुसारात्
दैगम्बरेऽस्मिन् खलु क्षेत्रवर्ये संधीयते धार्मिककार्यजातम् ।। ६ ।।

भक्तिकेन्द्रस्य पूर्णाऽस्य व्यवस्था संविधीयते ।
निर्वाचनपद्धत्या जैपुरीयै र्दिगम्बरैः ।। ७ ।।

क्षेत्रप्रवन्धकारिण्यां व्यवस्थासंविधायिनः ।
कर्मठाः कुशला विज्ञाः सभ्या जायन्त एवते ।। ८ ।।

मंत्रिपदे नियुक्तोऽत्र "श्री कपूरेन्दुपाटनी"
"खिन्दूका-ज्ञानचद्रो"ऽस्ति सभापतिपदस्थितः ।। ९ ।।

अष्टसहस्रीभावं येनादायैव चाप्तमीमांसा ।
अपरं युक्त्यनुशासन मनूदितं भाषया हिन्दया ।। १० ।।

तेनैवेदं रचितं काव्यं नव्यं मनोहरैः पादैः ।
विद्वन्मनोमुदे स्याद्धार्दिकभावोऽस्ति मे चायम् ।। ११ ।।

सल्लोमातृभवेन येन रचितं श्रीन्यायरत्नं महत्,
टीकाभिस्तितसृभिर्युतं गुणिजनामोदप्रदं तोषदं ।
स्वान्तप्रेरणया च काव्यमितरच्छ्राहान्तलोकाभिधम्
तेनेदं रचितं स्वकल्पितपदै र्विद्वन्मनोमोदकैः ।।१२।।

पूर्वस्मान्मेघदूताच्च पादानन्त्यान् मया मुदा ।
गृहीत्वा पूरितास्तेऽत्र क्षम्या स्याद्यद्यसंगतिः ।।१३।।

उत्तरमेघदूतस्थाः पादा अन्त्याश्च केचन ।
पूरिता अवशिष्टाश्च त्यक्ता अनुपयोगिनः ।।१४।।

सातत्येन प्रमुदितमना मूलचन्द्राभिधानः
कश्चिद् व्यक्ति र्मुनिवरशुभाशंसिवादप्रभावात्
काव्यं नव्यं श्रमपरिगतः शारदाराधनायां
चक्रे भूयाद् गुणमणिभृतां तोषकृत्पण्डितानाम् ।।१५।।

वृषसेवायां निरतः प्रोस्टेडग्रन्थिनार्दितो जातः ।
दैव ! त्वत्प्रतिकूलाचरणादेवाधुना मन्ये ।।१६।।

कर्तुं मे न शुभं भवेद् यदि विधे ! वाञ्छा त्वदीयाऽधुना
मा कार्षीरशुभं कदाचिदपि मे विज्ञप्तिमेतां शृणु ।
याचे न द्रविणं न कीर्तिमतुलं सौख्यं परं प्रार्थये,
त्वत्कष्टैकसहा भवेत्तनुरियं कुर्यादियन्मे बलम् ।।१७।।

इत्थं प्रार्थनया प्रसन्नमनसा दैवेन दत्तं बलम्,
वार्धक्येऽपि मया सदाश्रयवशाद् दृब्धं मनोरंजकम्
काव्यं नव्यमिदं यदीयपठनाच्चित्ते भवेन्नैकशः,
विज्ञानां महतां च पाठकनृणां वाञ्छा पुन र्वा पठेम ।।१८।।

ज्ञास्यन्ति ते किन्नु परिश्रमं मे दोषेक्षणाकृत्यनिबद्धकक्षाः
रविप्रकाशो भवतीति कीदृग् जानन्ति नो सत्यमुलूकपोताः।।१९।।

सागरमण्डलाधीतो विद्वन्मंडलमण्डितः ।
मालथौनाभिधो ग्रामो रम्योऽस्ति जनसंकुलः ।।२०।।
तत्रास्मि लब्धजन्माऽहं परवारकुलोद्भवः ।
ललो माता पिता मे श्री सटालेलालनामकः ।।२१।।

एतत्काव्यं मया दृब्धं द्विसहस्त्रे च वैक्रमे ।
एकोनत्रिंशता युक्ते शुक्ले मासि च कार्तिके ।।२२।।

यावद्राजति शासनं जिनपते र्यावच्च गंगाजलम्,
यावच्चंद्रदिवाकरौ वितनुतः स्वीयां गतिं चाम्बरे ।
तावद्राजतु नव्यकाव्यमपि मे पापठ्यमानं जनैः,
एतल्लभ्यमथो भवेत्तदिह यच्छ्रेयो गुरूनाश्रयेत् ।।२३।।

गंगोत्तुङ्गतरङ्गसंगिसलिलप्रान्तस्थितो विश्रुतः
श्रीस्याद्वादपदाङ्कितो भुवि जनै र्मान्योऽस्ति विद्यालयः ।
तत्राऽहं ह्यपठं गणेशगुरुणा संस्थापिते वर्णिना
अम्बादासपदोपगूहिततनुर्मेऽभूद्विशिष्टो गुरुः ।।२४।।
मतिभ्रमोऽजायत एव पुंसां वार्द्धक्यकाले जनवाद एषः
मिथ्या, यतोऽहं न तथा बभूव, बभूव में प्रत्युत शेमुषीद्धा ।।२५।।

विद्वांसस्तु भवन्त्येते संकटापन्न जीवनाः
प्रकृत्या कंटकाकीर्णो जायते पाटली सुमः ।।२६।।
एवं विचिन्त्य संतोषाज्जीवनं यापयाम्यहम्,
ध्रुवमतेद् यथापात्रं समुद्राल्लभते जलम् ।।२७।।

भावार्थ—मैंने यह काव्य ७० वर्ष की अवस्था में गुम्फित किया है इसलिये इसमें यदि कोई त्रुटि हुई हो तो उसका संशोधन कर लेना चाहिये ।।१।। राजस्थान प्रान्त में श्रीमहावीरजी नाम का एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है वहां मैं पाण्डित्य पद पर नियुक्त हूँ । वहां रह कर मैंनें इस नवीन काव्य की रचना की है ।।२।। यह क्षेत्र दिगम्बर क्षेत्र है, बहुत प्राचीन है, समृद्ध और अतिशयशाली है । यहाँ देशान्तर से विशिष्ट विद्वान् आते रहते हैं एवं भक्तिभाव से ओतप्रोत श्रावकगण यहाँ पूजनादि कार्य करते रहते हैं ।।३।। यह क्षेत्र गम्भीर नदी के पश्चिम तट पर स्थित है । इस का नाम मूल नायक श्री महावीर प्रभु के नाम से 'श्री महावीर' ऐसा प्रचलित है । यहाँ भूगर्भ से निकली हुई श्री महावीर प्रभु की प्रतिमा है । इस क्षेत्र का सौन्दर्य भी अपूर्व ही है । यहाँ दान रूपी सलिल स्वयं इस क्षेत्र का सदा सिञ्चन करता रहता है ।।४।। दिगम्बर आम्नाय के अनुसार ही यहाँ पूजा प्रतिष्ठादि कार्य सम्पन्न होते हैं । यह लोकजनोपकारी क्षेत्र है । सब ही दर्शन कर अपने आपको

भाग्यशाली मानते हैं ।।५।। दिगम्बराचार्य श्री कुंदकुंद की मान्यता के अनुसार ही इस दिगम्बर क्षेत्र पर समय-समय पर धार्मिक कार्य होते रहते हैं ।।६।। भक्ति के केन्द्ररूप इस क्षेत्र की पूर्ण व्यवस्था निर्वाचनपद्धति से चुने गये जयपुर के दिगम्बर जैनजन करते रहते हैं ।।७।। क्षेत्र की प्रबन्धकारिणी कमेटी में चुने गये सदस्य कर्मठ, कुशल और चतुर होते हैं—ये क्षेत्र की सेवा निस्पृह भाव से करते रहते हैं ।।८।। इस समय क्षेत्रीय मंत्री-पद पर श्री 'कपूरचन्द पाटनी' महोदय हैं और सभापति पद पर खिन्दूका श्री 'ज्ञानचन्द्रजी' हैं ।।९।।

जिसने अष्टसहस्री के भाव को लेकर 'आप्तमीमांसा' का एवं 'युक्त्यनुशासन' ग्रंथ का हिन्दी में अनुवाद किया है उसी ने इस नवीन काव्य की रचना की है । यह विद्वज्जन मनोमोहक बने यही मेरी मांगलिक कामना है ।।१०–११।।

मल्लो-माता के सुपुत्र मैंने "न्यायरत्न" नामक सूत्रग्रन्थ रचा और संस्कृत में उस पर तीन टीकाएँ भी रची, जो विद्वजनों को मान्य हुई हैं तथा स्वान्त सुखाय और भी दूसरे काव्य एवं "लोंकाशाह" नामक एक १४ सर्गात्मक महाकाव्य भी निर्मित किया । इस वचनदूत की जो रचना की है वह विद्वन्मनोमोदक स्वकल्पनारचित पदों से की है । पूर्व मेघदूत के अन्तिम पाद को लेकर पूर्ववचनदूत की रचना हुई है. उसमें जो असंगति प्रतीत हो उसके लिये मैं क्षम्य हूं । उत्तर-वचनदूत में उत्तरमेघदूत के अन्तिम पादों की समस्या पूर्ति हुई है, पर जिनकी संगति हो सकी है उनकी ही संगति इस उत्तर वचनदूत की कथावस्तु के साथ बैठायी गई है, सब अन्तिमपादों की नहीं ।।१२–१४।।

मुझ मूलचंद्र नामक साधारण व्यक्ति ने मुनिवर विद्यानन्द महाराज के–शुभाशीर्वाद के प्रभाव से इस नवीन काव्य की रचना की है. मेरा अधिकांश समय सरस्वती माता की आराधना में ही व्यतीत होता है । गुणों में अनुराग रखने वाले विद्वज्जनों को मेरा यह काव्य संतोषप्रद होगा ऐसा आत्म विश्वास है ।।१५।।

धार्मिक कार्यों के संपादन में निरन्तर निरत होने पर भी मुझे दैव की प्रतिकूलता से प्रोस्टेडग्रन्थि की बाधा हो गई है ।।१६।। अतः मैंने उसकी अनुकूलता

संपादनार्थ जो स्तुति की उससे मुझे इस वृद्धावस्था में बल मिला। स्तुति में मैंने दैव से यही याचना की कि मैं तुम से न धन चाहता हूं, न कीर्ति की कामना करता हूं और न अतुल सुख चाहता हूं। मैं तो केवल यही चाहता हूं कि तुम्हारे द्वारा दिये गये इन कष्ट को मेरा यह शरीर सह सके इतना बल मुझे प्रदान करो ॥१७॥

इस प्रकार की प्रार्थना से प्रसन्न हुए दैव ने मुझे इस ग्रन्थ के निर्माण करने लायक बना दिया, जिससे मैं इस नवीन ग्रन्थ को निर्माण कर विज्ञ पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने में समर्थ हो सका हूं। यह पाठकों के मन को रंजित करेगा और एक बार भी पढ़ लेने पर पुनः उन्हें यह बार बार पढने को उत्कंठित बनावेगा। ॥१८॥

जो दूसरों के दोषों को देखने के शौकीन हैं वे मेरे इसके निर्माण करने के परिश्रम की कीमत नहीं कर सकते हैं। क्योंकि रवि का प्रकाश कैसा होता है इस बात को उल्लू का बच्चा नहीं जानता है ॥१९॥

मेरी जन्मभूमि मालथौन नामक कस्बा है। यह सागर जिले में वर्तमान है। मेरी माता का नाम सल्लो और पिता का नाम श्रीसटोललाल हैं। जाति का मैं परवार हूं। यह काव्य मैंने वि० संवत् २०२९ में रचा है। वह समय कार्तिक मास का शुल्क पक्ष का था ॥२०–२२॥

जब तक जिनेन्द्र का शासन भूमण्डल में चमकता रहे, गंगा का जल बहता रहे और आकाशमण्डल को चन्द्र और सूर्य प्रकाशित करते रहें, तब तक इस काव्य को जनता अच्छी तरह से पढती रहे। इससे मिलने वाला श्रेय मेरे गुरुजनों को प्राप्त हो ऐसी मेरी मांगलिक भावना है ॥२३॥

मेरा अध्ययन बनारसस्थ स्याद्वाद महाविद्यालय में हुआ है, यह भदैनी घाट पर स्थित है, जनता इसे श्रद्धा की दृष्टि से देखती है, उसके प्रति जनता का बहुत आदर भाव है। इसकी स्थापना श्रीपूज्य गणेशप्रसाद जी वर्णी ने की है। वहां मेरे प्रधान विद्यागुरु श्रीमान् अम्बादास जी शास्त्री थे ॥२४॥

"वृद्धावस्था में मतिभ्रम हो जाता है" ऐसा जो जनवाद—लोकोक्ति है—उसे मैं मिथ्या इसलिये मानता हूं कि इस अवस्था में मेरी बुद्धि में विकास हुआ है ॥२५॥

विद्वज्जन तो संकटापन्न जीवन वाले ही होते चले आये हैं। हमने देखा है कि गुलाब का फूल कांटों में ही विकसित होता है ॥२६॥

ऐसी बात सोचकर ही मेरा जीवन संतोष से निकल रहा है। बात तो यह सच है कि समुद्र के पास बैठा हुआ व्यक्ति अपने पात्र के अनुसार ही उसमें से जल प्राप्त कर सकता है ॥२७॥

समाप्तमिदं वचनदूतमुत्तरार्द्धम्

———